आराधना

न्थ दर्शन ज्ञान चारित्र तप आदि के विषय से सम्बन्धित है पूर्वाचार्यों द्वारा ादित मूलाचार, भगवती आराधना, मूलाराधना, अनगार धर्मामृत, आचार आदि ग्रन्थो से सबन्धित है, पू० माता जी ने इस ग्रन्थ को बडे ही सरस एव सरल ा से गठित कर समाज को एक रत्नकरडश्रावकाचार के समान कृति तैयार की माज माता जी के प्रति चिर ऋणी रहेगा।

यह पुस्तक जैन जैनेतर मे वितरत की जानी चाहिये जो सदा उनर पाम जिससे वे भावत माग (आराधना) को अपना सके। आर्यिकारत्न ज्ञानमती द्वारा प्रस्तुत आराधना इस विषय की सयत एव उपयोगी कृति है। सरल ध शैली मे लिखी गई यह कृति आधुनिक दृष्टि से धर्म भावना के पीछे निहित उद्देश्यो, उसके व्यावहारिक पक्ष एव उसके भीतर समाविष्ट आत्म तत्व को ाने मे सहायक सिद्ध होगी क्योंकि यह कृति साक्षात् मोक्ष माग है।

धर्मचन्द जैन शास्त्री,
ज्योतिषाचार्य
आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज (सघस्थ)

अपनी बात

धन्य हो गई पावन भूमि हस्तिनापुर जहाँ पर परम चारित्र अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी सिद्धांतवारिधी न्याय प्रभाकर आर्यिकारत्न पूज्य १०५ आर्यिका ज्ञानमति माता जी की साधना, अध्ययन और स्वाध्याय मनन चिंतन के फलस्वरूप नये-नये ग्रंथों की रचना हो रही है। अबाल बाल वृद्ध सभी के अनुरूप जिनवाणी के चारों अनुयोगों का सरल और शुद्ध प्रामाणिक रूप प्रत्येक स्वाध्यायी की जिज्ञासा दूर कर रहे हैं।

अमूल्य रत्न करण्ड में से नवीन-नवीन रत्नों की उत्पत्ति हो रही है। श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान (जम्बूद्वीप) से पूज्य माता जी ने बाल विकास नाम से बालकों को जैनधर्म का बोध कराने वाली सचित्र पुस्तकें बनाई हैं, न्याय के विद्यार्थियों के हेतु अष्ट सहस्री जैसे विशाल ग्रंथ की टीका, स्त्रियों के लिये "आर्यिका" ग्रंथ की रचना की गई इस रचना में महान चारित्र धर्म उद्योतक ग्रंथ 'मूलाचार' के आधार पर दिग्दर्शन कराया गया है। यह ग्रंथ पाठकों के हाथों में निकलते ही दूसरे संस्करण की श्रेणी में पहुंच गया है।

जैनाचार्य परमआध्यात्मिक श्री १०८ आचार्य कुंद-कुंद स्वामी के मूलाचार के आधार पर २०० पृष्ठों का एक महान ग्रंथ "दिगम्बर मुनि" तैयार हो गया जो प्रेस में जाने को तैयारी में है। जब यह ग्रंथ पाठकों के हाथ में पहुँचेगा तब मुनि-मार्ग और उनकी चर्या विचर्या का पूरा-पूरा आभास व ज्ञान पाठकों को होगा।

दर्शनाराधना ज्ञानाराधना, चारित्रआराधना और तप आराधना का कितने सुन्दर और सप्रमाण वर्णन है ऐसा 'आराधना' नामक ग्रंथ आपके हाथ में है। यह ग्रंथ प्राकृत संस्कृत में मूलाचार के आधार पर तैयार श्लोक रूप में किया गया था जो दिगम्बर मुनियों, आर्यिकाओं को कण्ठस्थ करने योग्य है। ८९४ श्लोकों का यह महान ग्रंथ अब हिन्दी टीका सहित संस्थान से प्रकाशित करा पठन के योग्य है। इस ग्रंथ में मुनियों आर्यिकाओं की चर्या का वर्णन है।

पूज्य माता ज्ञानमति जी माता जी के अन्य टीका ग्रंथ इन्द्र ध्वज, सिद्ध [illegible] [illegible], जम्बूद्वीप, [illegible], [illegible] [illegible] आदि हैं जो [illegible] [illegible] में [illegible]

। सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका चारों अनुयोगों का दर्पण है जिसमें अपना वैभव स्पष्ट
लकता है।

अत. विज्ञ पाठकों ! आप अपने हृदय की विशालता स्वच्छ मन से प्रगट
रेंगे ऐसी आशा है।

पूज्य आर्यिकारत्न माता जी के चरणों में त्रिवार वंदना।

डौत (मेरठ)
२७-४-१९७९ ई०

बाबूलाल जैन जमादार
महामंत्री
अ० भा० दि० जैन शास्त्र परिषद बड़ौत

लेखिका के प्रति किञ्चित प्रसून

अष्टसहस्री आदि महान क्लिष्ट ग्रन्थों की हिन्दी टीकाकार, सुप्रसिद्ध लेखिका, महान विदुषी आर्यिकारत्न, सिद्धान्त वाचस्पति श्री ज्ञानमती माता जी का जन्म सन् १९३४ वि० स० की पूर्णिमा को टिकैतनगर (जिला बाराबंकी) उ० प्र० में हुआ था। आपके पिता श्री छोटेलाल जी जैन टिकैत नगर के एक प्रसिद्ध व्यवसायी रहे हैं, आपकी माता मोहिनी देवी (वर्तमान में आर्यिका श्री रत्नमती जी) प्रारम्भ से ही धर्मनिष्ठ रही हैं।

पूज्य माताजी ने २००९ में 'क्षुल्लिका दीक्षा' एवं वि० स० २०१३ में आर्यिका दीक्षा लेकर समग्र भारतवर्ष की पद यात्रा करके ज्ञान गंगा प्रवाहित की है।

पू० माता जी का सारा जीवन ज्ञानोपयोगमय रहा है, निरन्तर पठन-पाठन ही आपका प्रमुख व्यसन सा रहा है।

आपके द्वारा हुआ सिद्धान्तिक साहित्य सेवा का एक अनुपम कार्य—

(१) अष्टसहस्री (२) नियमसार (३) भावसंग्रह (४) कातन्त्र व्याकरण (५) मूलाचार (६) लब्धीय स्यणी आदि।

वर्तमान—नियमसार की संस्कृत टीका

मौलिक रचनाएँ—

(१) त्रिलोक भास्कर, (२) जैन ज्योतिलोक (३) भगवान महावीर कैसे बने, बाल विकास भाग १–४, इन्द्रध्वज विधान आदि एकशत ग्रन्थों का संस्कृत हिन्दी गद्य पद्य सहित रचनायें तथा अनुवाद एवं मौलिक रचनायें हैं, ये पुस्तकों में जो अभूतपूर्व कार्य किया है जिससे धार्मिक समाज सदा कृतज्ञ रहेगा।

धर्मचन्द जैन शास्त्री
आचार्य श्रीधर्मसागर जी (संघस्थ)

आराधना के भेद—

दर्शनज्ञानचारित्र तपोभेदैश्चतुर्विधा ।
आराधनाद्विभेदाश्च निश्चयव्यवहारत ॥३॥

अर्थ—दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तप आरा-
धना के भेद से आराधना चार प्रकार की है। निश्चयाराधना और व्यव-
हाराराधना की अपेक्षा आराधना के दो भेद भी है ।

दृशि ज्ञान तु चारित्रे, तप स्याद् गर्भित ततः ।
द्विधाप्याराधना प्रोक्ता, दृष्टिचारित्रयोर्जिनै ॥४॥

अर्थ—दर्शन मे ज्ञान के गर्भित हो जाने से तथा चारित्र मे तप
गर्भित हो जाने से जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाराधना और चारित्राराधना
अपेक्षा आराधना को दो प्रकार से भी कहा है ।

आराधना एक भी है—

चारित्राराधनैकैवाऽथवा स्यात् किंच तत्र हि ।
चारित्राराधिते सम्यक् सर्वमाराधित भवेत् ॥५॥

अर्थ—अथवा एक चारित्राराधना ही होती है क्योंकि सम्य
पूर्वक चारित्र की आराधना करने पर निश्चित रूप से सभी की आ
धना हो जाती है ।

भावार्थ—यहा पर सम्यक्त्व सहित चारित्र की आराधना ही चारि
राधना है। अत उस चारित्र की आराधना मे सम्यग्दर्शन और सम्यग
है ही तथा जो कुछ भी तपश्चरण है वह भी चारित्र के अन्तर्गत है।
दृष्टि से अभेद विवक्षा से एक चारित्राराधना ही मानी गई है।

[illegible]—आर्या—

उद्योतनमुद्यवनं, निर्वहणं साधन च निस्तरणम् ।
सद्दृष्टिबोधवृत्ततपसामाराधना [illegible]ता: ॥६॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं में से प्रत्येक का उद्योतन करना अर्थात् इनको निर्मल करना, इनका उद्यवन—उत्कृष्ट रीति से इनका यवन-मिश्रण करना, अर्थात् बार-बार इनमें परिणत होना, निर्वहण-परीषह आदि के आ जाने पर भी निराकुलतया लाभादि की अपेक्षा न रखते हुये इनका वहन करना—धारण करना, साधन-उपयोगांतर से यदि ये अन्तर्हित हो जावें तो पुन इनका निष्पादन करना अर्थात् नित्य अथवा नैमित्तिक किंचित् क्रिया को करते हुये इनमें किसी में यदि व्यवधान पड जाय तो उनको पुन. उपाय के प्रयोग से परिपूर्ण करना। निस्तरण—इन्हें भवांतर में भी ले जाना अर्थात् मरण के अन्त तक इनका निर्वाह करना। इस प्रकार इन चारों आराधनाओं की सिद्धि इन उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण रूप पांच प्रकारों से होती है।

आराधना के कथन की प्रतिज्ञा—

व्यवहारनयेनैव, चतुर्भेदाः पृथक् पृथक्।
वक्ष्यमाणा हि तावत्प्राग् दर्शनाराधनां ब्रुवे ॥७॥

अर्थ—व्यवहार-नय से ही आराधना के चार भेद हैं। प्रत्येक का पृथक् पृथक् लक्षण आगे कहेंगे। उनमें से पहले दर्शनाराधना को कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण—

तत्त्वार्थानां सुश्रद्धानं, तत्सम्यग्दर्शनं मतम्।
सत्याप्तशास्त्रसाधूनां, श्रद्धानं स्वात्मनोऽपि च ॥८॥

अर्थ—वास्तविक तत्त्वों के अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, तथा सच्चे देव शास्त्र गुरुओं का श्रद्धान करना एवं अपनी आत्मा का श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन है।

आराधना के भेद—

दर्शनज्ञानचारित्र तपोभेदैश्चतुर्विधा ।
आराधनाद्विभेदाश्च निश्चयव्यवहारत ॥३॥

अर्थ—दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तप आराधना के भेद से आराधना चार प्रकार की है। निश्चयाराधना और व्यवहाराराधना की अपेक्षा आराधना के दो भेद भी हैं।

दृशि ज्ञान तु चारित्रे, तप स्याद् गर्भित ततः ।
द्विधाप्याराधना प्रोक्ता, दृष्टिचारित्रयोर्जिनै. ॥४॥

अर्थ—दर्शन में ज्ञान के गर्भित हो जाने से तथा चारित्र में तप के गर्भित हो जाने से जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाराधना और चारित्राराधना की अपेक्षा आराधना को दो प्रकार से भी कहा है।

आराधना एक भी है—

चारित्राराधनं कैवाऽथवा स्यात् किंच तत्र हि ।
चारित्राराधिते सम्यक् सर्वमाराधितं भवेत् ॥५॥

अर्थ—अथवा एक चारित्राराधना ही होती है क्योंकि सम्यक्त्व पूर्वक चारित्र की आराधना करने पर निश्चित रूप से सभी की आराधना हो जाती है।

भावार्थ—यहां पर सम्यक्त्व सहित चारित्र की आराधना ही चारित्राराधना है। अतः उस चारित्र की आराधना में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ही तथा जो कुछ भी तपश्चरण है वह भी चारित्र के अन्तर्गत है। इसी [illegible] एक चारित्राराधना ही मानी गई है।

[illegible]—आर्या—

[illegible] निराकरणम् ।
[illegible] रोगाः ॥६॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं में से प्रत्येक का उद्योतन करना अर्थात् उनको निर्मल करना, उनका उद्यवन—उत्कृष्ट रीति से उनका यतन-मिश्रण करना, अर्थात् बार-बार उनमें परिणत होना, निर्वहण-परीषह आदि के आ जाने पर भी निराकुलतया लाभादि की अपेक्षा न रखते हुये उनका वहन करना—धारण करना, साधन-उपयोगान्तर से यदि ये अन्तर्हित हो जाये तो पुनः उनका निष्पादन करना अर्थात् नित्य अथवा नैमित्तिक किंचित् क्रिया को करते हुये उनमें किसी में यदि व्यवधान पड़ जाय तो उनको पुनः उपाय से प्रयोग से परिपूर्ण करना। निस्तरण—इन्हें भवान्तर में भी ले जाना अर्थात् मरण के अन्त तक उनका निर्वाह करना। इस प्रकार इन चारों आराधनाओं की सिद्धि इन उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण इन पांच प्रकारों से होती है।

आराधना के कथन की प्रतिज्ञा—

व्यवहारनयेनैव, चतुर्भेदाः पृथक् पृथक्।
वक्ष्यमाणा हि तावत्प्राग् दर्शनाराधना ब्रुवे ॥७॥

अर्थ—व्यवहार नय से ही आराधना के चार भेद हैं। प्रत्येक का पृथक् पृथक् लक्षण आगे कहेंगे। उनमें से पहले दर्शनाराधना को कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण—

तत्त्वार्थानां सुश्रद्धानं, तत्सम्यग्दर्शनं मतम्।
सदाप्तशास्त्रसाधूनां, श्रद्धानं स्वात्मनोऽपि च ॥८॥

अर्थ—वास्तविक तत्त्वों के अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तथा सच्चे देव शास्त्र गुरुओं का श्रद्धान करना एवं अपनी आत्मा का श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन है।

दर्शन आराधना का लक्षण—

पंचविंशतिदोषैर्यत्, मुक्तमष्टांगसंयुतम् ।
तस्यैवाराधना लोके, सम्यक्त्वाराधना मता ॥९॥

अर्थ—पच्चीस मल दोषो से रहित और आठ अंगों मे सहित जो सम्यग्दर्शन है उसकी आराधना ही लोक मे सम्यक्त्वाराधना कही गई है।

निःशंकित अंग का लक्षण—

जिनोक्तेषु मनो नित्यं निःशङ्कं भीतिवर्जितम् ।
तन्निःशङ्कितमङ्गं स्यात्, नान्यथावादिनो जिनाः ॥१०॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित तत्त्वो मे मन का सदैव शंका रहित होना, और सप्त भयो से रहित होना निःशंकित अंग है क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं है।

निःकांक्षित अंग का लक्षण—

दृष्टश्रुतानुभूतेषु, सौख्येषु मम का स्पृहा ।
भोगाकाङ्क्षामिति त्यक्त्वा, निःकाङ्क्षाङ्गं भजेत् सदा ॥११॥

अर्थ—देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किए हुए ऐसे सुखों मे मेरी इच्छा क्या होगी ? इस प्रकार से भोगों की आकांक्षा का त्याग करके हमेशा निःकांक्षित अंग का आश्रय लेना चाहिए।

निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण—

उच्चारादिषु द्रव्येषु, गात्रेषु क्षुत्तृषादिषु ।
जुगुप्सां यो त्यजेत्तस्य, निर्जुगुप्सा मता जिनैः ॥१२॥

अर्थ—मलमूत्रादि द्रव्यों में और क्षुधा, तृषा आदि भावों में जो जुगुप्सा-ग्लानि का त्याग कर देते हैं उनके निर्जुगुप्सा अंग होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अमूढदृष्टि अंग का लक्षण—

लोकवेदादिमूढत्वं, कुदृक्संसर्गशंसनम् ।
त्यक्त्वैवामूढदृष्टिः स्यात्, निर्मूढत्वं श्रयन्नसौ ॥१३॥

अर्थ—लोकमूढता, वेदमूढता आदि मूढता को, और मिथ्यादृष्टियों के संसर्ग को तथा उनकी प्रशंसा को छोड़ करके ही मूढतारहित अवस्था का आश्रय लेते हुए जीव अमूढदृष्टि अंग का धारक होता है।

उपगूहन अंग का लक्षण—

दृक्चरणेषु केषांचित्, दोषान् वीक्ष्योपगूहते ।
धर्मभक्त्या भवेत्तस्योपगूहनाङ्गं शुद्धिकृत् ॥१४॥

अर्थ—किन्हीं जीवों के सम्यग्दर्शन और चारित्र में कुछ दोषों को देखकर जो उनको ढक देते हैं उनके शुद्धि को करने वाला वह उपगूहन अंग कहलाता है।

स्थितिकरण का लक्षण—

कांश्चित् जीवान् विलोक्यात्र, सदृक् चारित्रतश्च्युतान् ।
तान् निवृत्य स्थिरीकुर्यात्, स्थितीकरणमंगभाक् ॥१५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और चारित्र से च्युत हुए किन्हीं जीवों को देखकर उनको वापस उसी सम्यक्त्व या चारित्र में जो स्थिर कर देता है वह स्थिति-करण को प्राप्त करने वाला होता है।

वात्सल्य अंग का लक्षण—

चतुर्गत्यब्धिनौरूपे, चातुर्वर्ण्ये प्रसन्नधीः ।
अकृत्रिमं क्रियात् प्रेम, तद्वात्सल्यं जगद्धितम् ॥१६॥

अर्थ—चतुर्गति रूपी समुद्र से पार होने में नौका के समान ऐसे चतुर्विध संघ में जो प्रसन्न बुद्धि वाला मनुष्य अकृत्रिम प्रेम करता है उसका जगत के लिए हितकर वह वात्सल्य अंग होता है।

प्रभावना अंग का लक्षण—

वादाष्टांगनिमित्तादिदानपूजामहोत्सवैः ।
धर्मः प्रभावनीयो हि, धर्मोद्योतनतत्परैः ॥१७॥

अर्थ—धर्म का उद्योतन करने में तत्पर हुए मनुष्यों को वाद अष्टांग-निमित्त आदि और दान, पूजा के महोत्सवों के द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिये यह प्रभावना अंग है।

पच्चीस मल दोष के नाम—

दोषाश्चाष्टौ मदाश्चाष्टौ, तथानायतनानि षट् ।
मूढत्रितयमित्येते, दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥१८॥

अर्थ—इन आठ अंगों से उल्टे शंका आदि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता सम्यग्दर्शन के ये पच्चीस मल दोष होते हैं।

आठ दोष—

निःशङ्कादिविपरीतादोषा शङ्कादयोऽष्ट ते ।
त्यक्तव्या नाङ्गहीनो हि सद्दृष्टिस्स्यन्ने भवात् ॥१९॥

अर्थ—निःशंकित आदि आठ अंगों से विपरीत शंका आदि आठ दोष [illegible] आठ अंगों के शंका आदि अंगों से [illegible] है।

आठ मद—

कुलं जातिं तपो ज्ञानं पूजामृद्धिं बलं वपुः ।
एतान् श्रित्वा त्यजेत् गर्वं सुधीः रक्षेत् स्वगौरवम् ॥२०॥

अर्थ—कुल, जाति, तप, ज्ञान, पूजा, ऐश्वर्य, बल और रूप इनका आश्रय लेकर बुद्धिमान् गर्व का त्याग करे और अपने गौरव की रक्षा करे ।

छह अनायतन—

मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि, तैर्युताः पुरुषा अपि ।
षडनायतनानि स्युः सुदृक् तान्यपि नो भजेत् ॥२१॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इन तीनों से सहित पुरुष ऐसे ये छह अनायतन होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इनका भी सेवन न करे ।

लोकमूढ़ता—

नदीस्नानादिकार्येषु धर्मबुद्ध्या प्रवर्तनम् ।
लोकमूढं ब्रुवन्त्यार्याः, न कुर्यात् शुद्धदृक् क्वचित् ॥२२॥

अर्थ—धर्मबुद्धि से नदी में स्नान आदि कार्यों में प्रवर्तन करने को गणधर देव आदि लोकमूढ़ता कहते हैं। सम्यग्दृष्टि कभी भी इसको नहीं करता है ।

देवमूढ़ता—

देवा जिनमताद् बाह्या, रागद्वेषाद्युता अपि ।
वरोपलिप्सया तेषां, भक्तिः स्याद् देवमूढ़ता ॥२३॥

अर्थ—जिनमत से बहिर्भूत, राग-द्वेष से आक्रान्त जितने भी देव हैं, वर प्राप्त करने की इच्छा से उनकी भक्ति करना देवमूढ़ता है ।

अर्थ—अपने कनिष्ठ-लघु [अप्रसिद्ध या अल्पज्ञ] आदि गुरु का नाम छिपाकर अन्य महान् गुरु के नाम का कथन करने पर अथवा ग्रंथ के विषय मे भी ऐसा करने पर निन्हव नाम का दोष और ऐसा न करने पर अनिन्हव नाम का गुण होता है। अर्थात् किसी ने गुरु का नाम पूछा तो यदि अपने गुरु कनिष्ठ है तो उनके नाम से मेरी विशेषता नही होगी ऐसा सोचकर अपने को किसी बड़े प्रसिद्ध गुरु का शिष्य बता देना या जिस ग्रंथ से ज्ञान प्राप्त किया है उसके अतिरिक्त बड़े ग्रंथ का नाम बता देना आदि निन्हव दोष है ऐसा न करने से अनिन्हव गुण होता है।

बहुमान का लक्षण—

ग्रन्थादिवाचनाकार्ये, गर्वहीनः कृतादरः।
गुर्वाद्यासादनाभावो बहुमानो भवेद् गुणः ॥३८॥

अर्थ—ग्रंथो के वाचना आदि कार्य मे गर्वहीन होते हुए जो आदर किया जाता है और गुरु तथा ग्रन्थ आदि की आसादना का जो नही करता है वह बहुमान नाम का गुण है।

उपधान का लक्षण—

एतत्स्वाध्यायपर्यंत, एतद्वस्तु त्यजाम्यहं।
ईदृगवग्रहं कृत्वा, ह्युपधानविधिर्भवेत् ॥३९॥

अर्थ—इस ग्रन्थ के स्वाध्याय पर्यंत इस वस्तु का मै त्याग करता हूँ इस प्रकार अवग्रह करके पढ़ने पर वह उपधान विधि होती है।

विनय का लक्षण—

पर्यंकाद्यासनस्थः सन्, पठेत् साधुस्तथार्यिका।
सपिच्छिकराञ्जलिं बद्ध्वा, नत्वासौ विनयो मतः ॥४०॥

अर्थ—पर्यंक आसन आदि आसन मे स्थित होकर मुनि अथवा आर्यिका पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर नमस्कार कर जो पढ़ते हैं वह विनय नाम का गुण माना गया है।

अष्टविध ज्ञान का उपसंहार—

इत्थमष्टविधैः सम्यक्ज्ञानमाराध्यते बुधैः ।
चत्वारश्चानुयोगाः स्युः ज्ञातव्या ज्ञानसिद्धये ॥४१॥

अर्थ—बुद्धिमान लोग इस तरह आठ विध से सम्यग्ज्ञान की आराधना करते हैं। ज्ञान की सिद्धि के लिए चार प्रकार के अनुयोग भी ज्ञातव्य हैं।

प्रथमानुयोग—

तीर्थेश्वरादेश्चरितं प्रवक्ति, बोधेः समाधेश्च निधानभूतः ।
पुनाति चित्तं विधुनोति पापं, पुण्यं चिनोति प्रथमानुयोगः ॥४२॥

अर्थ—प्रथमानुयोग तीर्थंकर आदि महापुरुषों के चरित्र का वर्णन करता है। बोधि (रत्नत्रय की प्राप्ति) और समाधि का भंडार है। मन को पवित्र करता है, पाप का नाश करता है और पुण्य का संचय करता है।

करणानुयोग—

अलोकलोकौ प्रविभज्य लोके, चतुर्गतीनां परिवर्तनं च ।
युगस्य चक्रं परिवृत्तिमीशः, ब्रूते च सर्वं करणानुयोगः ॥४३॥

अर्थ—इस संसार में लोक और अलोक का विभाग करके चारों गतियों के परिवर्तन को और युग के परिवर्तन को कहने में समर्थ ऐसा करणानुयोग सभी का कथन करता है।

चरणानुयोग—

गृहस्थमुन्योर्द्विविधं सुमार्गं वृत्तस्य तूत्पत्तिविवृद्धिरक्षा-
निष्पत्तिकार्येषु विधानदक्षः व्यनक्ति वृत्तं चरणानुयोगः ॥४४॥

अर्थ—गृहस्थ और मुनियों के दोनों प्रकार के मार्ग को चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षा और चारित्र की पूर्ति के कार्यों के विधान में कुशल ऐसा चरणानुयोग चारित्र को स्पष्ट रूप से कहता है।

द्रव्यानुयोग—

जीवादितत्त्वानि च पुण्यपापे यो बंधमोक्षादिविधि विधत्ते।
प्रकाशते शुद्धनिजात्मतत्त्वं द्रव्यानुयोगः किल दीप एव ॥४५॥

अर्थ—जो जीव अजीव आदि तत्त्वों को, पुण्य और पाप को तथा बंध और मोक्ष आदि की विधि को कहता है और जो शुद्ध निज आत्म तत्त्व को प्रकाशित करता है ऐसा द्रव्यानुयोग निश्चित रूप से दीपक ही है

ज्ञानाराधना का फल—मालिनी छन्द

सहजपरमभावो ज्ञानभास्वान् धरायां
विकिरति निजरश्मीन् ध्वातमोह धुनोति।
भविजनहृदयाब्जान् वोधयत्याशु तस्मात्
अहमपि निजतृप्त्यै ज्ञानमाराधयामि ॥४६॥

अर्थ—सहज परम पारिणामिक भावरूप ज्ञान सूर्य इस पृथ्वी पर अपनी किरणों को बिखेरता है और मोहरूपी अंधकार को नष्ट करता है तथा संसारी जनों के हृदय कमलों को शीघ्र ही विकसित कर देता है इसलिए मैं भी अपनी तृप्ति के लिए ज्ञान की आराधना करता हूं।

इस प्रकार आराधना नामक ग्रंथ में ज्ञानाराधना नामक द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

गुरु दीक्षा किसे देवे ?

जातिवंशगुणाद्यैस्त योग्यं विज्ञाय ते गुरु.।
दीक्षां दद्यात् चतु.संघं साक्षीकृत्य शुभेदिने ॥५१॥

अर्थ—गुरु भी उस शिष्य को जाति, वश और गुण आदि से योग्य जानकर चतुर्विध सघ को साक्षी करके शुभ दिन मे उसे दीक्षा देवें।

गुरु शिष्य को क्या-क्या देवे ?

संयमज्ञानशौचानामुपधिं पिच्छिकादिकम्।
अष्टाविंशतिविख्यातान् दद्यात् मूलगुणानपि ॥५२॥

अर्थ—सयम का उपकरण पिच्छी, ज्ञान का उपकरण शास्त्र और शौच का उपकरण कमडलु तथा प्रसिद्ध रूप अट्ठाईस मूलगुणो को भी प्रदान करें।

अट्ठाईस मूलगुण के नाम—
आर्यागीतिछंद

व्रतसमितीन्द्रियरोधावश्यकलोचास्त्वचेलमस्नानम्।
भूशयनं दन्तानामघर्षणं स्थितिभुक्तिमेकभक्तं च ॥५३॥

आर्याछंद

पञ्च पञ्च पञ्चापि षट् च प्रत्येकमेकमेकं च।
अष्टाविंशतिभेदाः मुनेर्यथाक्रमं मूलगुणा ॥५४॥

अर्थ—पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, लोच, अचेलत्व, अस्नान, भूशयन, अदन्त घर्षण, स्थितिभोजन और एक भक्त ये मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं।

महाव्रत का अन्वर्थ नाम

तीर्थंकृच्चक्रवर्त्यादिमहापुरुषसेवितम्।
तस्मान्महाव्रतं ख्यातमित्युक्तं मुनिपुङ्गवैः ॥५५॥

अर्थ—तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा जो सेवित हैं इसीलिए ये महाव्रत इस प्रकार से प्रसिद्ध हैं ऐसा मुनि पुंगवों ने कहा है।

पांच महाव्रत—

हिंसादि पञ्चपापेभ्यः कृत्स्नतो विरतिर्व्रतम् ।
अभेदादेकमेव स्यात् भेदात् पञ्चैव संति च ॥५६॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों से संपूर्णतया विरक्त होना व्रत है। यह व्रत अभेद रूप से अर्थात् सर्व सावद्य योग से मैं विरक्त हूं—इस प्रकार से सामायिक व्रत रूप एक ही है और भेद की विवक्षा से पांच प्रकार का ही है।

अहिंसा महाव्रत—

कायेन्द्रियगुणस्थान मार्गणाकुलयोनिषु ।
जीवान् ज्ञात्वा च तान् रक्षेत् तस्याहिंसाव्रतं भवेत् ॥५७॥

अर्थ—छह कायों में, पांच इन्द्रियों में, चौदह गुणस्थानों में, मार्गणाओं में, कुलों में और योनियों में जीवों को जानकर जो उनकी रक्षा करते हैं, उनके अहिंसा महाव्रत होता है।

सत्य महाव्रत

रागाद्यैरनृतं त्यक्त्वा सत्यमप्यन्यतापकृत् ।
सूत्रार्थोक्ते च याथात्म्यं तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥५८॥

अर्थ—रागद्वेष आदि के निमित्त से असत्य वचन को छोड़कर पर को ताप करने वाला ऐसा सत्य भी नहीं बोलना और सूत्रों के अर्थ के कथन में जैसे का तैसा कहना यह सत्यमहाव्रत कहलाता है।

अचौर्य महाव्रत—

पतितविस्मृतमन्यस्य, परद्रव्यादिकं तथा ।
अदत्तं नैव गृह्णीयात्, तदचौर्यव्रतं भवेत् ॥५९॥

अर्थ—अन्य का यत्किचित् भी द्रव्य और अन्य के शिष्य आदिको भी नही ग्रहण करना और बिना दिया हुआ कुछ भी नही ग्रहण करना यह अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—

चिदचित् स्त्रीत्रिकं वीक्ष्य मातादिवत् विरज्यते।
तस्य त्रैलोक्यपूज्यं स्यात्, ब्रह्मचर्यं महाव्रतम् ॥६०॥

अर्थ—जो चेतन अचेतन सम्बधी वृद्धा, युवती और बाला ऐसी तीन प्रकार की स्त्रियो को माता, बहन और पुत्री के समान देखकर उनसे विरक्त हो जाता है उसके त्रैलोक्य पूज्य ऐसा ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है।

अपरिग्रह महाव्रत—

बाह्यान्तरङ्गभेदांस्तान्, ग्रन्थान् संत्यज्य सर्वतः।
संयमाद्युपधौ स्याच्च, निर्ममो व्रतपंचमः ॥६१॥

अर्थ—जो बहिरग और अतरग भेदरूप सम्पूर्ण ग्रन्थ—परिग्रह सम्पूर्णतया छोडकर के सयम आदि के उपकरणो मे भी निर्मम हो जा है उसके यह अपरिग्रह नाम का पाचवा महाव्रत होता है।

समिति का लक्षण और भेद—

सम्यक् प्रवृत्तिरीर्यादौ समितिः पच ता अपि।
ईर्याभाषैषणादान निक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ॥६२॥

अर्थ—ईर्या-गमन आदि कार्यों मे जो सम्—सम्यक् प्रकार से इ प्रवृत्ति है वह समिति है उसके भी ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षे और उत्सर्ग इन नाम से पाच भेद होते है।

ईर्या समिति—

दिवा प्रासुकमार्गेण गच्छेद् वीक्ष्य युगान्तरम्।
सकार्यं प्राणिनो रक्षन् तस्येर्यासमितिर्भवेत् ॥६३॥

पचेन्द्रिय निरोधव्रत—

द्दक्कर्णो नासिका जिह्वा, स्पर्शश्चेंद्रियपञ्चकं ।
स्वस्वविषयतो रोधे पंचेन्द्रिय निरोधकम् ॥६८॥

अर्थ—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और स्पर्शन ये पाच इंद्रि अपने-अपने विषय से इनको रोकने पर ही ये पांच इन्द्रियनिर होते है ।

चक्षु इन्द्रिय निरोधव्रत—

सचित्ताचित्तवस्तूनि हीष्टानिष्टानि वीक्ष्य च ।
रागद्वेषादिसंत्यागः चक्षूरोधो भवेन्मुनेः ॥६९॥

अर्थ—सचित्त और अचित्त ऐसी जो वस्तुयें हैं जोकि अपने इष्ट या अनिष्ट रूप प्रतीत होती है उनमे राग द्वेषादि का त्याग यह मुनियो का चक्षु निरोधव्रत है ।

कर्णेन्द्रिय निरोधव्रत—

जीवशब्दानजीवांश्च, रत्यरत्योश्च कारकान् ।
श्रुत्वा रागादिहीन स्यादसौ श्रोत्रेन्द्रियार्थजित् ॥७०॥

अर्थ—जीव के निमित्त से होने वाले शब्दो को और अजीव के को जो रति और अरति को करने वाले है उनको सुनकर जो राग द्वे नहीं करते है उनके श्रोत्रेन्द्रियजयव्रत होता है ।

अर्थ—जो अवश्य ही करने योग्य है उन्हे आवश्यक कहते हैं, उ
छह भेद है। समता, स्तव, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और काय
यदि प्रयत्नपूर्वक हमेशा इनका पालन करते है।

समता आवश्यक—

सुखदु:खादिके साम्यं, षोढा नामादितस्तथा।
सामायिकं त्रिकाल च विधिवद् देववंदना ॥७५॥

अर्थ—सुख-दु ख आदि भावो मे जो साम्य भाव रखना है उ
नाम सामायिक है। उसके नामादि की अपेक्षा छह भेद हैं तथा त्रिक
विधिपूर्वक देववदना करना भी सामायिक है।

स्तव आवश्यक—

ऋषभादिजिनेन्द्राणां नामाद्यैर्गुणकीर्तनम्।
त्रिशुद्ध्या नमन पूजाकरणं स्तुतिरुच्यते ॥७६॥

अर्थ—ऋषभ आदि तीर्थंकरो का नाम, स्थापना आदि छह प्र
गुणकीर्तन करना, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करना
पूजा करना यह स्तव आवश्यक है।

वदना आवश्यक—

अर्हत्सिद्धगुरून् बिम्ब, कृतिकर्मविधानतः।
एकमेक च वंदेत, नामाद्यैः सा च वंदना ॥७७॥

अर्थ—अर्हंत सिद्ध और साधुगण तथा इनके प्रतिबिम्बो को भी
कर्म विधिपूर्वक एक-एक की वदना करना आवश्यक है। इस
नाम आदि की अपेक्षा छह भेद है।

लोच मूलगुण—

मुनिर्द्वित्रिचतुर्मासे, केशोत्पाटं करोति य. ।
उत्तमो मध्यमो हीनस्त्रेधा लोचश्च मोहहृत् ।।८१।।

अर्थ—जो मुनि दो महीने, तीन महीने या चार महीने में केशो का उत्‍टन करते है वह उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद रूप से तीन प्रकार से ल नाम का मूलगुण होता है जोकि मोह का नाश करने वाला है अर्थात् महीने से किया गया लोच उत्तम है, तीन महीने से किया गया मध्यम और चार महीने से किया गया जघन्य हैं । यह केशलोच शरीर ममत्व नष्ट करने वाला है ।

आचेलक्य मूलगुण—

वस्त्राभूषणसंत्यागस्त्वाचेलक्य व्रतं भवेत् ।
त्रैलोक्यपूज्यनैग्रन्थ्य रूपं मार्ग: शिवस्य हि ।।८२।।

अर्थ—सम्पूर्ण वस्त्र और आभूपण का त्याग कर देना अचेलक यह तीनो जगत् मे पूज्य निर्ग्रन्थ रूप ही निश्चय से मोक्ष का मार्ग है

अस्नान व्रत—

स्नानादिवर्जनेनैतां लिप्तां जल्ल*मलैस्तनुम् ।
बिभ्रतो व्रतमस्नानं, घोरं संयमिनो भवेत् ।।८३।।

अर्थ—स्नान आदि का त्याग कर देने से पसीना और धूलि से शरीर को धारण करने वाले सयमी के यह अस्नान नाम का घोर होता है ।

---

* [illegible] पर धूलि के चिपकने से उस मल को जल्ल संज्ञा है ।

आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छदन, सनिमन्त्रणा और उपसपत् ये दश नाम औघिक समाचार है जोकि गुणो मे प्रीति को वढाने के लिए मुनियो के द्वारा नित्य ही करने योग्य हैं।

इच्छाकार का लक्षण—

शास्त्रादीनिष्टयोगादीन्, याचते विनयान्वितः।
स्वपरार्थं गुरोः पार्श्वे, स इच्छाकार उच्यते ॥६४॥

अर्थ—जो साधु अपने अथवा पर के लिए शास्त्रादि को इष्टयं प्रतिभायोग आदि के हेतु गुरु के पास विनय सहित हुए याचना क उनका वह इच्छाकार कहलाता है।

मिथ्याकार का लक्षण—

मिथ्या मे दुष्कृतं भूयादिति दोषे सति ब्रुवन्।
न करोमीति भावोऽपि, मिथ्याकारो विशुद्धिकृत् ।६५।

अर्थ—मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे, इस प्रकार से अपराध के कहते हुए तथा 'आगे ऐसा नहीं करूगा' ऐसा भाव भी विशुद्धि क वाला मिथ्याकार कहलाता है।

तथाकार का लक्षण—

तत्त्वाख्यानोपदेशादौ, सुष्ठूक्तं च तथैव हि।
गुरोरित्यादरोक्ति स, तथाकारो हि तत्तथा ॥६

अर्थ—तत्त्व के कथन में या उपदेश आदि में आपने बहुत ठीक कहा है, ऐसा ही है इत्यादि रूप में गुरु के प्रति आदर व्यक्त करते हुए वचन कहना सो तथाकार कहलाता है।

अर्थ—सम्पूर्ण क्रियाओ मे गुरु आदि के अनुकूल प्रवृत्ति करना गुरु के छद-अनुकूलवर्ती साधु का छदन नाम का समाचार है जो कि गु को खानि है।

निमत्रणा का लक्षण—

कस्यचित् संयतस्यापि, यदीच्छेत् पुस्तकादिकम् ।
पुनश्च याचनां कृत्वा, गृह्णीयात् सा निमंत्रणा ॥१०

अर्थ—किसी भी साधु की कोई पुस्तक आदि लेना चाहते है याचना करके जो उसको ग्रहण करता है सो निमत्रणा है।

उपसपत् का लक्षण—

अहं युष्माकमेवेति, गुरोरात्मसमर्पणम् ।
सर्वस्वं मे भवानेन, सोपसपत् सुवाक्व्रजा ॥१०२॥

अर्थ—'मैं आपका ही हू' इस प्रकार से वचन बोलकर गुरु क समर्पण कर देना अथवा 'आप ही मेरे सर्वस्व है' इत्यादि सम्यक् वच उपसपत् नाम का समाचार है ।

उपसपत् के पाच भेद—

विनयक्षेत्रमार्गेषु, तथा च सुखदुःखयोः ।
सूत्रे च नियमात्कार्या, सोपसंपत् च पंचधा ॥१०३

अर्थ—विनय के विषय मे, क्षेत्र के विषय मे, मार्ग के विषय सुख-दुःख के विषय मे नियम से करने योग्य उपसपत् पाच प्रकार है। अर्थात इन विनय आदि के निमित्त मे इस उपसपत् समाचार भेद हो जाते है।

अर्थ—सम्पूर्ण क्रियाओ मे गुरु आदि के अनुकूल प्रवृत्ति करना ; गुरु के छद-अनुकूलवर्ती साधु का छदन नाम का समाचार है जो कि सुख की खानि है।

निमत्रणा का लक्षण—

कस्यचित् संयतस्यापि, यदीच्छेत् पुस्तकादिकम् ।
पुनश्च याचनां कृत्वा, गृह्णीयात् सा निमंत्रणा ॥१०१॥

अर्थ—किसी भी साधु की कोई पुस्तक आदि लेना चाहते हैं तो पुनः याचना करके जो उसको ग्रहण करता है सो निमत्रणा है।

उपसपत् का लक्षण—

अहं युष्माकमेवेति, गुरोरात्मसमर्पणम् ।
सर्वस्वं मे भवानेन, सोपसंपत् सुवाक्व्रजा ॥१०२॥

अर्थ—'मैं आपका ही हू' इस प्रकार से वचन बोलकर गुरु को आत्म-समर्पण कर देना अथवा 'आप ही मेरे सर्वस्व हैं' इत्यादि सम्यक् वचन बोलना उपसपत् नाम का समाचार है।

उपसपत् के पाच भेद—

विनयक्षेत्रमार्गेषु, तथा च सुखदुःखयोः ।
सूत्रे च नियमात्कार्या, सोपसंपत् च पंचधा ॥१०३॥

अर्थ—विनय के विषय मे, क्षेत्र के विषय मे, मार्ग के विषय मे तथा सुख-दुःख के विषय मे नियम से रखने योग्य उपसपत् पाच प्रकार की होती है। अर्थात् इन विनय आदि के निमित्त मे इस उपसपत् समाचार के पाँच भेद हो जाते हैं।

अर्थ—सम्पूर्ण क्रियाओ मे गुरु आदि के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही गुरु के छंद-अनुकूलवर्ती साधु का छंदन नाम का समाचार है जो कि सुगुणो की खानि है।

निमंत्रणा का लक्षण—

> कस्यचित् संयतस्यापि, यदीच्छेत् पुस्तकादिकम् ।
> पुनश्च याचनां कृत्वा, गृह्णीयात् सा निमंत्रणा ॥१०१॥

अर्थ—किसी भी साधु की कोई पुस्तक आदि लेना चाहते हैं तो पुन याचना करके जो उसको ग्रहण करता है सो निमंत्रणा है।

उपसपत् का लक्षण—

> अहं युष्माकमेवेति, गुरोरात्मसमर्पणम् ।
> सर्वस्वं मे भवानेन, सोपसंपत् सुवाक्व्रजा ॥१०२॥

अर्थ—'मैं आपका ही हूं' इस प्रकार से वचन बोलकर गुरु को आत्म समर्पण कर देना अथवा 'आप ही मेरे सर्वस्व है' इत्यादि सम्यक् वचन बोलन उपसपत् नाम का समाचार है।

उपसपत् के पांच भेद—

> विनयक्षेत्रमार्गेषु, तथा च सुखदुःखयोः ।
> सूत्रे च नियमात्कार्या, सोपसंपत् च पंचधा ॥१०३॥

अर्थ—विनय के विषय मे, क्षेत्र के विषय मे, मार्ग के विषय मे तथा सुख-दुःख के विषय मे नियम से करने योग्य उपसपत् पाच प्रकार की होती है। अर्थात् इन विनय आदि के निमित्त से इस उपसपत् समाचार के पाच भेद हो जाते हैं।

अर्थ—सम्पूर्ण क्रियाओ मे गुरु आदि के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही गुरु के छद-अनुकूलवर्ती साधु का छदन नाम का समाचार है जो कि सुगुणो की खानि है।

निमत्रणा का लक्षण—

कस्यचित् संयतस्यापि, यदीच्छेत् पुस्तकादिकम् ।
पुनश्च याचनां कृत्वा, गृह्णीयात् सा निमंत्रणा ॥१०१॥

अर्थ—किसी भी साधु की कोई पुस्तक आदि लेना चाहते हैं तो पुन याचना करके जो उसको ग्रहण करता है सो निमत्रणा है।

उपसपत् का लक्षण—

अहं युष्माकमेवेति, गुरोरात्मसमर्पणम् ।
सर्वस्वं मे भवानेन, सोपसपत् सुवाक्व्रजा ॥१०२॥

अर्थ—'मैं आपका ही हू' इस प्रकार से वचन बोलकर गुरु को आत्म-समर्पण कर देना अथवा 'आप ही मेरे सर्वस्व है' इत्यादि सम्यक् वचन बोलना उपसपत् नाम का समाचार है।

उपसपत् के पाच भेद—

विनयक्षेत्रमार्गेषु, तथा च सुखदुःखयोः ।
सूत्रे च नियमात्कार्या, सोपसंपत् च पंचधा ॥१०३॥

अर्थ—विनय के विषय मे, क्षेत्र के विषय मे, मार्ग के विषय मे तथा सुख-दुःख के विषय मे नियम से करने योग्य उपसपत् पाच प्रकार की होती है। अर्थात इन विनय आदि के निमित्त मे इस उपसपत् समाचार के पांच भेद हो जाते हैं।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके पाद प्रसाद से मैं अन्य सघ व करने को अथवा अन्य सघ मे पढने को जाना चाहता हूँ अत आप अनुग्रह कीजिए ।

सूत्र उपसपत् का लक्षण—

सूत्र वेदादिसिद्धान्त साधुभिरूपसेव्यते ।
संपदापचधैव च रत्नत्रयविवृद्धये ।।१०८।।

अर्थ—इस प्रकार तीन बार, पाच बार अथवा छह बार पूछकर गु की आज्ञा प्राप्त करके वह मुनि एक मुनि के साथ अथवा दो मुनि के सा या तीन मुनि के साथ विहार करता है ।

प्रथम समाचारविधि के वाद द्वितीय समाचार कथन—

एष उक्तः समासेनेदानीं पदविभागिक ।
ब्रवीम्यार्षानुसारेण मार्गं सर्वहितङ्करं ।।१०९।।

अर्थ—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के लोप के भय से मुनि एकाकी विहार न करे, अन्यथा वह अपने गुरु की निंदा, आर्ष परम्परा का व्युच्छेद आदि अनेक दोषो को प्राप्त करने वाला हो जाता है ।

विशेषार्थ—स्वैराचारी मुनि के एकाकी विहार मे गुरु का परिवाद श्रुत का व्युच्छेद, धर्मतीर्थ—जिनशासन की मलिनता, मूर्खता, आकुलता कुशीलपना और पार्श्वस्थापना ऐसे दोष आते है । कंटक, ठूंठ आदि से उपद्रव, कुत्ता, बैल, पशुओ के उपद्रव तथा सर्प और म्लेच्छ आदि जनो से विपत्ति प्राप्त हो सकती है । विष और अजीर्ण से भी बाधा हो सकती है उस समय उसकी वैयावृत्ति कौन करेगा अत अपने साथ दो, तीन आदि मुनियों को लेकर ही विहार करना उचित है । एकाकी विहार मे पाच निकाचित स्थान नाम के दोष भी आते है । यथा—(१) जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उल्लघन, (२) अनवस्था—ऐसे ही अन्य मुनि भी स्वैराचारी हो

पृच्छां त्रिः पंच वा षट् वा कृत्वाप्यनुज्ञया गुरोः ।
निरेत्येकेन द्वाभ्यां वा चतुर्भिर्मुनिभिः सह ॥११३॥

अर्थ—इस तरह तीन बार, पांच बार अथवा छह बार पूछ करके, गुरु की आज्ञा लेकर एक मुनि को साथ लेकर, दो मुनि को साथ लेकर अथवा तीन मुनि को साथ लेकर संघ से प्रस्थान करता है।

एकाकी विहार का निषेध—

एकाकी नैव निर्गच्छेत् जिनाज्ञालोपभीतितः ।
सोऽन्यथा स्वगुरोर्निंदार्षव्युच्छेदादिदोषभाक् ॥११४॥

अर्थ—वह मुनि जिनेन्द्र देव की आज्ञा के लोप के भय से एकाकी विहार नही करे। अन्यथा वह अपने गुरु की निंदा, श्रुत का व्युच्छेद आदि अनेको दोषो को करने वाला हो जावेगा।

एकलविहारी कौन हो सकता है ?

श्रेष्ठसंहननाद्यैर्यो[1] जिनकल्पी च धैर्यवान् ।
स एवैकविहारी स्यात् सर्वज्ञाज्ञानुसारतः ॥११५॥

अर्थ—जो उत्तम संहनन आदि से युक्त है, जिनकल्पी है और धैर्य सहित है वही साधु सर्वज्ञ देव की आज्ञानुसार एकलविहारी हो सकता है।

विशेषार्थ—जो बारह प्रकार के तप से परिपूर्ण है, द्वादश अंग और चौदह पूर्व के विद्वान है, अथवा काल के अनुरूप सूत्रों के विद्वान हैं, प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता हैं, मनोबल से सहित और एकत्व भावना से

---

1 तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य,
पविआ आगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥२८॥
(मूलाचार पृ० ८१)

आगन्तुक साधु के प्रति परसघ के साधु का व्यवहार—

वीक्ष्यागन्तुकमायान्तमन्यसंघस्य साधव. ।
उत्थाय संमुखं गत्वा, कृत्वा तद्योग्यवंदनम् ॥११८॥

त्रिरत्नकुशलं पृष्ट्वा मार्गश्रांतिमपोह्य च ।
आवासासनभिक्षादिव्यवस्थां कुर्वतेतराम् ॥११९ ॥ (युग्मं)

अर्थ—आगंतुक साधु को देखकर अन्य सघ के साधुगण उठकर सम्मुख जाकर उनके योग्य वन्दना करके पुन रत्नत्रय कुशल पूछकर और मार्ग के श्रम को दूर करके आवास, आसन, आहार आदि की व्यवस्था करते हैं।

आगतुक साधु परसघ मे कैसे रहे ?

परीक्षंते मिथः सम्यक् तृतीये दिवसे पुनः ।
गुरूं विज्ञाप्य कार्यं स्वं स्थातुमाज्ञां लभेत सः ॥१२०॥

अर्थ—सघस्थ साधु और आगतुक साधु तीन दिन तक आपस मे एक-दूसरे की क्रियाओ मे परीक्षा बुद्धि रखते है पुन आगतुक साधु तृतीय दिवस गुरु के पास अपने आने का प्रयोजन निवेदन करके गुरु से सघ मे रहने की आज्ञा प्राप्त कर लेते है।

आगतुक के प्रति आचार्य का कर्तव्य—

योग्यं निरीक्ष्य सूरिस्तं, गृह्णीयात् धर्मवत्सलात् ।
सोपि सर्वं समर्प्यं स्वं, साधं कुर्यात् क्रियादिकम् ॥१२१॥

अर्थ—आचार्य देव भी आगन्तुक मुनि को योग्य-शास्त्रोक्त चर्या द्वारा देखकर धर्म के वात्सल्य से उसको स्वीकार करें और वह भी अपने

को संघ में समर्पित करके संघस्थ साधुओं के साथ ही क्रिया आदि प्रतिक्रमण आदि करें।

परसंघ में आगंतुक मुनि का कर्तव्य—

स्वसूरिरिव तं सूरिं गणयन् भक्तितो वसेत् ।
स्वेष्टान् ग्रन्थान् पठित्वासौ स्वसंघे चेद् पुनः व्रजेत् ॥१२२॥

अर्थ—आगंतुक मुनि अपने आचार्य के समान ही इन आचार्य को मानता हुआ भक्तिपूर्वक संघ में निवास करे और अपने को इष्ट ऐसे ग्रन्थों को पढ़कर पुनः यदि अपने संघ में वापस जाना चाहे तो चला जावे।

आर्यिकाओं की चर्या—

एवं मूलगुणाः सर्वे समाचारो द्विधाप्ययं ।
आर्यिकाणां तथैवस्युः यथायोग्यं विधीयते[1] ॥१२३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त अट्ठाईस मूलगुण, ये औघिक और पद-विभागिक ऐसे दोनों प्रकार के समाचार ये सभी आर्यिकाओं के लिए उसी प्रकार से ही हैं जो कि उनके द्वारा यथायोग्य पाले जाते हैं।

यथायोग्य शब्द से क्या अन्तर समझना ? सो बताते हैं—

गृह्णाति शाटिकायुग्मं परिधत्ते किंत्वेकका ।
आहारं करपात्रेण चोपविश्य करोति सा[2] ॥१२४॥

---

१. एसो अज्जाणंपि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं ।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं॥१८७॥ (मूलाचार पृ० ६६)

२. वस्त्रयुग्मं सुवीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च ।
आर्याणां सकलेन मूलोघे मूलमिष्यते ॥ (प्रायश्चित्त चूलिका)

अर्थ—आर्यिका दो साडियां ग्रहण करती हैं किन्तु एक समय मे एक को ही पहनती हैं तथा वे बैठकर करपात्र से आहार ग्रहण करती हैं।

चर्यास्वेतावता भेदो ह्यन्याः सर्वाश्च पूर्ववत् ।
आतापनादियोगेषु किंत्वासां नाधिकारता ॥१२५॥

अर्थ—बस इन दो चर्याओ मे ही मात्र अन्तर है और सभी क्रियायें पूर्ववत् मुनियों के समान हो हैं किन्तु आतापन आदि त्रिकाल योग, प्रतिमा योग और वीरचर्या मे इनको अधिकार नही है।

आर्यिकायें कैसे रहती हैं ?

वसेत् नैकाकिनी सापि, संघे चैवानुकूलया ।
गणिन्या आज्ञया सर्वं कार्यं कुर्यात् विमुक्तये ॥१२६॥

अर्थ—आर्यिका कभी भी अकेली न रहे, सघ मे परस्पर में अनुकूल प्रवृत्ति से रहे और गणिनी-प्रमुख आर्यिका की आज्ञा से मुक्ति हेतु सम्पूर्ण क्रियायें करे।

वसत्यादौ विहारादौ, सार्धमेव क्रियादिषु ।
वंदनादिषु गुर्वादिरप्येका जातु न व्रजेत् ॥१२७॥

अर्थ—वसनिका में निवास करने मे, विहार आदि मे, सभी आवश्यक क्रियाओ मे और गुरुओ को वदना आदि करने मे भी आर्यिका अकेली कदाचित् भी न जावे।

मुनीनामार्यिकाणा च समाचारः प्ररूपितः ।
सूत्रं च सर्वशुद्धीना पिण्डशुद्धि ब्रवीम्यत ॥१२८॥

अर्थ—इस तरह मुनियो और आर्यिकाओ का समाचार प्ररूपित किया गया है अब मैं सभी शुद्धियो मे मुख्य पिण्ड शुद्धि को कहता हूं।

पिंडशुद्धि प्रकरण—

पिंडशुद्धेश्च षट्चत्वारिंशद्दोषा मताः श्रुतौ ।
अध कर्ममहादोषः षट्कायारम्भजः पृथक् ॥१२६॥

अर्थ—शास्त्र में पिंडशुद्धि के छ्यालीस दोष माने जाते हैं और अध कर्म नाम का एक महादोष माना है जो षट्कायिक जीवो के आरम्भ के वध से उत्पन्न होता है और वह एक पृथक् ही है।

आहार शुद्धि के आठ भेद—

दोषैर्हीनाष्टधा शुद्धिः उद्गमोत्पादनैषणैः ।
संयोजनाप्रमाणाभ्यामंगारधूमकारणैः ॥ १३० ॥

अर्थ—उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इन आठ दोषो से रहित आहार शुद्धि आठ प्रकार की होती है।

छ्यालीस दोष कौन हैं ?

षोडशोद्गमदोषाश्च, षोडशोत्पादना मताः ।
एषणायाः दशदोषाश्चतुः संयोजनादयः ॥१३१ ॥

अर्थ—उद्गम के सोलह दोष, उत्पादन के सोलह दोष, एषणा के दश दोष और सयोजना, प्रमाण, अगार तथा धूम ये चार दोष ऐसे १६+१६+१०+४=४६ दोष होते हैं।

सोलह उद्गम का विवेचन—

षोडशोद्गमदोषान् प्राक् लक्षणैः सह ब्रवीम्यहं ।
श्रावकाश्रितदोषा ये ज्ञात्वा साधुस्त्यजत्यमून् ॥ १३२ ॥

अर्थ—पहले सोलह उद्गम दोषों को लक्षण सहित मैं कहता हूं, ये श्रावक के आश्रित होते हैं और इनकी जानकारी होने से साधु इन दोषों को छोड़ते हैं।

आर्याछंद-उद्दिष्टाध्यधिपूति-मिश्रस्थापितबलीश्च प्राभृतकम्।
प्राविष्कृतक्रीतर्ण परिवर्ताभिघटौ तथोद्भिन्नं च। १३३॥

अनुष्टुप्-मालिकारोहणाच्छेद्या-नीशार्थान् संज्ञकानिमान्।
आहारसमये दृष्ट्वा भुक्तेश्च विरमेन्मुनिः ॥१३४॥

अर्थ—उद्दिष्ट, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृतक, प्राविष्कृत, क्रीत, ऋण, परिवर्त, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोहण, आच्छेद्य और अनीशार्थ ये सोलह उद्गम दोष हैं। आहार के समय मुनि इनको देखकर आहार छोड़ देते हैं।

उद्दिष्ट और अध्यधिदोष—

यन्निष्पन्नं स्वमुद्दिश्य, तदौद्देशिकमुच्यते।
मुनिं वीक्ष्य स्वपाकेषु, प्रक्षेपोऽध्यधिनामभाक् ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो अपने को उद्देश करके बनाया गया भोजन है वह उद्दिष्ट कहलाता है और मुनि को आते हुए देखकर जो अपने पकते हुए चाव आदि में और अधिक मिला देना है वह अध्यधि नाम का दोष है।

पूति और मिश्र दोष—

अप्रासुकेन मिश्रं यत् प्रासुकमपि पूति तत्।
पाखण्डि गृहिभिः सार्धं दत्तं मिश्रं हि नामकम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—प्रासुक अन्न भी यदि अप्रासुक के साथ मिश्र है तो वह पूति-दोषयुक्त है। पाखंडियों अथवा गृहस्थों के साथ दिया गया भोजन मिश्र दोष से दूषित है।

स्थापित दोष—

पाकभाजनतोऽन्यस्मिन, पात्रे संस्थाप्य निक्षिपेत् ।
स्वगेहे परगेहे वा तदन्नं स्थापितं भवेत् ॥ १३७ ॥

अर्थ—पाकभाजन (बटलोई) आदि मे निकालकर अन्य पात्र मे रखकर जो अन्न अपने या परके गृह मे रख दिया गया हो वह स्थापित दोष से दूषित है।

बलि दोष और प्राभृत दोष—

यक्षादिकं बलिं दत्वा शेषं चान्न बलिर्मतः ।
कालस्य हानिवृद्धिभ्यामाहारो प्राभृतं भवेत् ॥ १३८ ॥

अर्थ—यक्षादि को बलि-नैवेद्य चढाकर बचे हुए शेष अन्न को बलि माना है। काल की हानि अथवा वृद्धि करके दिया गया आहार प्राभृतक दोष से सहित होता है।

प्राविष्कृत दोष—

भाजनभोजनादीनामन्यत्र नयनं तथा ।
प्रदीपाद्यैः प्रकाशोऽपि प्रादुष्करणमुच्यते ॥ १३९ ॥

अर्थ—बर्तन अथवा भोजन को अन्यत्र ले जाना अथवा दीपक आदि से उजेला करना यह प्राविष्करण दोष है।

क्रीत दोष अथवा ऋण दोष—

संयतान् वीक्ष्य यत्क्रीतं द्रव्यं तत्क्रीतमस्ति च ।
ऋण कृत्वाशनादीनि, लात्वा दत्त भवेदृणम् ॥ १४० ॥

अर्थ—सयतों को देखकर उसी समय खरीद कर लाया गया द्रव्य क्रीत दोष युक्त है।

ऋण—उधार रूप से लाये गये भोजन आदि देना ऋण दोष से दूषित है।

परिवर्त और अभिघट दोष—

परावृत्य यदन्नादिदानं परिवर्तनामभाक् ।
पङ्क्त्या सप्तगृहाद् भिन्नमन्नं ह्यभिघटं भवेत् ॥ १४१ ॥

अर्थ—जो अन्न आदि परिवर्तन करके—बदला-बदली करके दिया जाता है वह परिवर्त दोष रूप है और सात घर की पंक्ति से अतिरिक्त लाकर दिया गया अन्न अभिघट दोष रूप है।

उद्भिन्न दोष—

पिहितं मुद्रितं वस्तु ह्युद्भिद्य दीयते तदा ।
तदेवोद्भिन्न दोषः स्यात् मुनिभिर्गृह्यते नहि ॥ १४२ ॥

अर्थ—जो ढकी-बंद है या जिस पर मुहर आदि मुद्रा लगी हुई है ऐसी वस्तु को उसी समय खोलकर देना सो उद्भिन्न नाम का दोष है।

मालारोहण दोष—

निश्रेण्यारोहणं कृत्वाऽऽनीतं यन्मोदकादिकम् ।
मालारोहणदोषः स्यात्तद्वस्तु यदि गृह्यते ॥ १४३ ॥

अर्थ—निसैनी आदि से चढ़कर जो लड्डू आदि वस्तु लाई गई हो उस वस्तु को यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो मालारोहण नाम का दोष होता है।

आच्छेद्य दोष और अनीशार्थ दोष—

नृपतस्करभीत्यादेर्दत्तमाच्छेद्यमुच्यते ।
अनीशार्थोऽप्रधानेन दत्तं दोषोऽयमुच्यते ॥१४४॥

अर्थ—जो राजा अथवा चोर आदि के डर से आहार दिया जाता है वह आच्छेद्य दोष युक्त है। अप्रधान के द्वारा दिया गया अन्न अनीशार्थ दोष से दूषित है। इस प्रकार उद्गम के सोलह दोषों का निरूपण हुआ है।

सोलह उत्पादन दोषों के नाम—

आर्याछंदः- धात्रीदूतनिमित्ताजीववनीपकवैद्यककर्माणि स्युः ।
क्रोधचतुष्कं पूर्वं पश्चात्स्तवनेऽपि च विद्या मत्रम् ॥१४५॥

चूर्णं च मूलकर्म, ह्येते यत्याश्रिताश्च दोषाः संति ।
आहारार्थं मुनयो, नहि कुर्वंत्युत्पादनान् दोषान् ॥१४६॥

अर्थ—धात्री, दूत, निमित्त, आजीवक, वनीपक, वैद्यकर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मत्र, चूर्ण और मूलकर्म ये सोलह दोष उत्पादन दोष हैं जो कि यति के आश्रित होते हैं। यति गण आहार के हेतु इन दोषों को नहीं करते हैं।

धात्री और दूत दोष—

अनुष्टुप्—धात्री दोषो भवेत्साधोः धात्रीवत् शिशुलालनात् ।
दूतदोषश्च संदेशाऽऽनयनात् तस्य जायते ॥ १४७ ॥

अर्थ—धाय के समान बालक का लालन-पालन करने से साधु के धात्री नाम का दोष होता है और किसी का संदेश इधर से उधर पहुँचाने से दूत नाम का दोष होता है।

अर्थ—जो साधु इन उपर्युक्त कारणो से दातारो को प्रसन्न करके जब आहार लेता है तभी वह इन दोषो को प्राप्त करता है।

एषणा के दश दोष—

आर्यागीति—

शङ्कितमुक्षितक्षिप्ताः, पिहितः संव्यवहरणदायकोन्मिश्राः।

तथा ह्यपरिणतलिप्तौ, त्यक्तश्चैतेऽशनस्य दशदोषाः स्युः ॥१५५॥

अर्थ—शकित, मुक्षित, क्षिप्त, पिहित, सव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और त्यक्त ये दश अशन सबधि माने गये है।

शकित और मुक्षित दोष—

सेव्यमेतन्न वेत्यन्नं शङ्कायां शङ्कितोऽदने।

यत्स्निग्धहस्तपात्राद्यैर्दत्तं तन्मुक्षितं मतम् ॥१५६॥

अर्थ—यह भोजन सेवन योग्य है या नही ऐसी शका होने पर आहार कर लेने पर शकित दोष होता है। और जो भोजन चिकने हाथ या पात्र आदि से दिया जाता है वह मुक्षित कहलाता है।

निक्षिप्त और पिहित दोष—

सचित्ताम्बुजपत्रादौ, क्षिप्तं निक्षिप्तनामकम्।

पिहितं वृतं सचित्तैरचित्तगुर्व्यैश्च वा ॥१५७॥

अर्थ—सचित्त कमल पत्र आदि पर रखा हुआ भोजन निक्षिप्त दोषयुक्त है और सचित्त से ढका हुआ अथवा अचित्त किन्तु भारी-वजनदार वस्तु से ढका हुआ भोजन पिहित दोष से दूषित है।

संव्यवहरण और दायक दोष—

संव्यवहरणं शीघ्रं, पात्रादेः कर्षणं च यत्।

सूतकादियुतैर्दत्तं, भुङ्क्तेऽसौ दातृदोषभाक् ॥१५८॥

अर्थ—आहार के साथ जल्दी से वर्तन आदि का खीचना सव्यहवरण दोप है। सूतक पातक आदि दोप से युक्त व्यक्ति के द्वारा दिया गया आहार दायक दोप होता है। जो साधु एसा आहार करते है वे भी इन दोपो मे सहित हो जाते हैं।

उन्मिश्र और अपरिणत दोप—

जंतुमिश्रं यदन्नं तत् ह्यु्न्मिश्रदोपदूषितः।
प्रासुकं न हि चाग्न्याद्यैस्तच्चापरिणतं मतम् ॥१५९॥

अर्थ—जतुओ मे मिश्रित भोजन उन्मिश्रदोप युक्त होता है और जो भोजन अग्नि आदि से प्रासुक नही किया गया है वह अपरिणत कहलाता है।

लिप्त और व्यक्त दोप—

मृदादिलिप्तहस्तेन, दत्तं लिप्तं च दोपकृत्।
रसादीन् पातयन्नीचैः, भोजने त्यक्तमेव तत् ॥१६०॥

अर्थ—मिट्टी गेरु आदि से लिप्त हुये हाथ से दिया गया आहार लिप्त दोप करने वाला है और रस, दूध आदि पदार्थों को नीचे गिराते हुये भोजन करने से त्यक्त दोप होता है।

सयोजना और प्रमाण दोप—

सयोजनाविरुद्धं चेत् मिथ. संयोज्य दीयते।
य आहारोऽतिमात्रोसौ दोपः प्रमाणनामभाक् ॥१६१॥

अर्थ—यदि विरुद्ध भोजन परस्पर मिलाकर दिया जाता है तो वह सयोजना दोप सहित होता है। जो आहार मात्रा को उलघन करके अर्थात् अधिक लिया जाता है वह प्रमाण नाम के दोपरूप है।।

आहार का प्रमाण क्या है ?

सव्यञ्जनाशनेनार्धं, तृतीयमुदकेन च।
तुर्यंभागमुदरस्य वायुहेतावशेषयेत् ॥१६२॥

अर्थ—उदर के चार भाग करके उसमे से दो भागों को व्यंजनसहित खाद्य पदार्थ से पूर्ण करे, तीसरे भाग का जल आदि पेय पदार्थों से और उदर का चतुर्थ भाग वायु के लिये खाली रखे, यह प्रमाणरूप आहार है। इसका उलघन कर अधिक भोजन कर लेने से प्रमाण नाम का दोष हो जाता है।

अगार और धूम दोप—

गृद्ध्या सत्यशनेऽङ्गारो, धूमोऽरुचिकृन्निन्दया।

उद्गमादीन मिलित्वा षट्-चत्वारिंशन्मता इमे ॥१६३॥

अर्थ—अति गृद्धि से आहार करने पर अगार दोप होता है, अरुचिकर भोजन मे निंदा करने से धूम दोप होता है। पूर्वोक्त उद्गम आदि सभी मिलकर ये छयालीस दोप हो जाते है।

साधु छह कारणो से आहार करते हैं—

क्षुच्छांति देहरक्षा चा-वश्यकं धर्मसंयमे।

वैयावृत्य च वाञ्छन्नसन्, भुङ्क्ते षट्कारणैर्यतिः ॥१६४॥

अर्थ—क्षुधा की उपशाति, शरीर की रक्षा, आवश्यक क्रिया, दश धर्म संयम और वैयावृत्य इन की वाञ्छा करते हुये साधु इन छह कारणो से आहार ग्रहण करते है। अर्थात क्षुधा को शान्त करने के लिये प्राणों की रक्षा के लिये आवश्यक क्रिया, दशधर्म और संयम के पालने हेतु तथा अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करने के लिये दिगंबर मुनि आहार ग्रहण करते हैं।

साधु छह कारणों से आहार छोड़ देते हैं—

संन्यासातङ्कोपसर्ग-ष्वङ्गिदयातप कृते।

ब्रह्मचर्यस्य गुप्त्यै च षड्निमित्तैर्न भुञ्जन ॥१६५॥

अर्थ—संन्यास के प्रसंग मे, किसी आतंक के आ जाने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, प्राणियों की दया हेतु, तपश्चरण के लिये और ब्रह्मचर्य की गुप्ति के लिये इन छह कारणों से साधु आहार छोड़ देते है।

साधु किसलिए आहार करते हैं ?

नायुस्तेजोवलस्वादहेतौ नो देहवृद्धये ।
ज्ञानार्थं संयमार्थं च, भुड्क्ते ध्यानार्थमेव च ॥१६६॥

अर्थ—आयु, तेज और वल की वृद्धि के लिये या स्वाद के लिये अथवा शरीर की वृद्धि के लिये साधु आहार नही करते है किंतु ज्ञान के लिये, संयम के लिये और ध्यान की सिद्धि के लिये ही वे आहार लेते है।

चौदह मल दोष—
आर्यागीति—

पूयास्त्रपलास्थ्यजिनं नखश्च कचमृतविकलत्रितये कन्द ।
वोजमूलफलकुण्डा. कणश्चतुर्दश मलाश्च सन्त्याहारे ॥१६७॥

अर्थ—पीप, खून, मास, हड्डी, चमडा, नख, केश मरे हुये विकलत्रय, कंद, बीज, मूल फल कुंड और कण ये चौदह मल दोष आहार मे माने गये हैं।

किस वस्तु के आने पर क्या करना ?

अनुष्टुप्—पूयादावागते चान्ने प्रायश्चित्तं चरेन्मुनि ।
नखे च किञ्चिदाहारे केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ॥१६८॥

अर्थ—पीप आदि चर्मपर्यंत पदार्थों के आहार मे आ जाने पर आहार भी छोड देना चाहिये और मुनि को प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये, नख के आ जाने पर किंचित् प्रायश्चित्त है और केश तथा मृत विकलत्रय के आ जाने पर आहार छोड देना होता है।

कंदादिषट्कं त्यागार्हं मित्यन्नाच्च विभज्यताम् ।
पृथक्कर्तुं न शक्यं चेत् आहारस्तर्हि त्यज्यताम् ॥१६

अर्थ—कंद, बीज आदि छह वस्तुओं को आहार से [illegible] चाहिये और यदि उनको अपने हाथ से आहार [illegible]
हो तो आहार छोड़ देवे।

वत्तीस अतराय के नाम और लक्षण—

अंतरायाश्च द्वात्रिंशत्, प्रायः काकादिनामत ।
इमे भवंति प्रायश्च सिद्धभक्तेरनंतरम् ॥१७०॥

अर्थ—अतराय प्राय. वत्तीस है जो कि काक आदि नाम से प्रसिद्ध है । आर्ष ग्रन्थो से और भी अतराय जान लेना चाहिये । ये अतराय प्रायः सिद्ध भक्ति के अनतर होती है ।

काकादिना विडुत्सर्गे, काको नामांतरायकः ।
अमेध्यस्पर्शे वमने, रोधेरक्तेऽश्रुपातने ॥१७१॥

जान्वधस्त्वामर्शेऽपि, जानूपरिव्यतिक्रमे ।
नाभ्यधोनिर्गमने च, त्यक्तवस्तुप्रसेवने ॥१७२॥

जन्तुवधे च काकाद्यैः, पुटग्रासग्रहे सति ।
पाणितः पिण्डपाते च, पाणौ जन्तुवधे सति ॥१७३॥

मांसादिदर्शने चैव, ह्युपसर्गे समागते ।
पादान्तरे च पञ्चाक्षे जन्तौ निर्गते सति ॥१७४॥

उर्व्यां भाजन संपाते पारिवेषिकहस्तत ।
उच्चारे प्रस्रवणे चा भोज्यगृहप्रवेशने ॥१७५॥

श्वादिदष्टे स्वयं चैव, पतने ह्युपवेशने ।
निष्ठीवने धरास्पर्शे, तूदरात्क्रिमिनिर्गमे ॥१७६॥

अदत्तग्रहणे किञ्चित् प्रहारे ग्रामदाहने ।
पादेन ग्रहणे किञ्चित् करेणापि च भूमितः ॥१७७॥

अर्थ—कौवे आदि के द्वारा बीट कर देने पर, काक नाम का अतराय होता है । किसी विष्टा आदि के स्पर्श हो जाने पर अमेध्य नाम का

अंतराय है। आगे सभी अनराय अपने–अपने कार्य के अनुरूप नाम वाले है। वमन हो जाने पर, किसी के द्वारा रोक दिये जाने पर, रुधिर के बहने पर, अश्रु के निकलने पर, घुटनो से नीचे स्पर्श हो जाने पर, घुटनो के ऊपर से होकर निकलने पर, नाभि से नीचे होकर निकलने पर, त्यागी हुई वस्तु के सेवन कर लेने पर, प्राणि के मर जाने पर, कौवे आदि के द्वारा हाथ की अंजुली का ग्रास हरण हो जाने पर, अपनी अंजुली मे ग्रास के गिर जाने पर, अपनी अंजुली मे किसी विकलत्रय आदि प्राणी के मर जाने पर, मांस, रुधिर के देख लेने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, अपने पैर के बीच से किसी पंचेंद्रिय जंतु (चूहा आदि) के निकल जाने पर, मल विसर्जित हो जाने पर, मूत्र निकल आने पर, अभोज्य–चांडालादि के घर मे प्रवेश हो जाने पर, कुत्ते आदि के द्वारा काट जाने पर, स्वय गिर जाने पर, बैठ जाने पर, थूक देने पर, पृथ्वी का स्पर्श हो जाने पर अपने उदर मे कृमि के निकलने पर, बिना दिये कुछ ग्रहण कर लेने पर, किसी के द्वारा प्रहार हो जाने पर, ग्राम में अग्नि लग जाने पर, पैर मे कुछ वस्तु ग्रहण कर लेने पर और हाथ से भूमि पर से कोई वस्तु उठा लेने पर इतने कारणो से अनराय होता है।

भावार्थ—यहा पर जो बत्तीस अतराय बताये हैं क्रमश. उनके नाम देखिये।— १ काक, २ अमेध्य, ३ वमन, ४ रोध, ५. रुधिर. ६. अश्रुपात, ७ जान्वध स्पर्श, ८ जानूपरिव्यतिक्रम, ९ नाभ्यधोनिर्गमन, १० त्यक्तवस्तुसेवन, ११ जतुवध, १२ पिडहरण, १३ ग्रासपतन, १४ पाणीजतुवध, १५ मासादिदर्शन, १६ उपसर्ग १७ पादातर जतुनिर्गमन, १८ भाजन सपात, १९ उच्चार, २० प्रस्रवण, २१. अभोज्य–गृहप्रवेश २२. श्वानादिदशन, २३ पतन, २४ उपवेशन, २५ निष्ठीवन, २६ भूमिस्पर्श २७ उदरकृमिनिर्गमन, २८. किंचित् अदत्तग्रहण, २९ प्रहार, ३० ग्रामदाह, ३१. पाद से किंचित ग्रहण ३२ हाथ से किंचित् ग्रहण. ये बत्तीस अतरायो के नाम है। उनके नाम के अनुरूप ही काम है। ऐसे प्रसगो पर साधु आहार छोड देते है और मुख शुद्धि कर वापस चले आते है। इसमे बहुत से अतराय भोजन गृह मे सिद्ध होते है उनको गुरु परपरा से समझना चाहिये।

अन्य भी अन्तराय होते है—

एतेभ्योऽप्यतिरिक्ताश्च, मता विघ्ना अनेकधा ।
चाण्डालादेः भवेत्[1] स्पर्शः प्रधानप्रिययोर्मृतिः ॥१७८॥

कलहो लोकनिन्दा चेत्, संन्यास. संयतस्य च ।
स्वमौनभङ्गः सहसोपद्रवं भुक्तिसद्मनि ॥१७९॥

इत्यादीन्यन्तरायाणि, ज्ञात्वा गुरुमुखात्त्यजेत् ।
धर्मसंयमरक्षार्थं, निर्वेदादिविवृद्धये ॥१८०॥

अर्थ—इन बत्तीस से अतिरिक्त भी अतराय अनेक प्रकार के माने गये है। जैसे कि चाडाल आदि का स्पर्श हो जावे, प्रधान अथवा प्रिय का मरण होने पर, कलह, लोक निदा, सयतो का सन्यास, अपना मौन भग, आहार भवन मे सहसा उपद्रव हो जाना, इत्यादि अतरायो को गुरु मुख से जानकर धर्म और सयम की रक्षा के लिये तथा निर्वेद, वैराग्य आदि गुणो की वृद्धि के लिए आहार छोड देना चाहिये।

भावार्थ—उपर्युक्त बत्तीस के अलावा और भी अनेको अतराय हो जाते है जो कि सयम आदि की रक्षा हेतु पाले जाते हैं। जैसे चाडाल रजस्वला स्त्री आदि को देख लेने पर अथवा उनके शब्दो को सुन लेने पर राजकीय मत्री, राजा आदि के मर जाने पर या अपने किसी इष्ट का मरण हो जाने पर भी अतराय करना होता है। ये सब अतराय गुरु परपरा से जाने जाते है।

मुनि के आहार की प्रवृत्ति कैसी होती है—

गोचरी भ्रामरी श्वभ्रपूरणी चाक्षमुक्षिणी ।
उदराग्निशमनीति, पञ्चधा मुनिराहरेत् ॥१८१॥

अर्थ—गोचरी, भ्रामरी, गर्तपूरणी, अक्षमृक्षिणी और उदराग्निप्रशमनी इन पाच प्रकारो से मुनि आहार ग्रहण करते है।

---

[1] [illegible] भोजन [illegible]। षट्प्राभृत, पृ० ४३

भावार्थ—जैसे गाय अपने लिये घास देने वाले की तरफ दृष्टि न डाल कर मात्र घास खा लेती है उसी प्रकार साधु आहार देने वाले के रूप रंग आदि की तरफ न लक्ष्य मात्र योग्य आहार ग्रहण कर लेते हैं। जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट न देकर रस चूस लेता है वैसे ही श्रावकों को कष्ट न देकर निःस्पृह वृत्ति से आहार ले लेते हैं। जैसे किसी भी गड्ढे को भरने के लिये कैसी भी मिट्टी काम में ले ली जाती है वैसे ही उदर गर्त को भरने के लिये सरस, नीरस कैसा भी भोजन किया जाता है। जैसे रत्नों से भरित गाड़ी को इष्ट स्थान पर ले जाने के लिये पहियों में ओंगन देता है उसी प्रकार से रत्नत्रय से भरित शरीर रूपी गाड़ी को मुक्तिनगर में ले जाने के लिये साधु भी आहार लेते हैं। जैसे भांडागार में अग्नि लग जाने पर उसे जैसे तैसे जल से बुझाया जाता है उसी प्रकार उदर में क्षुधा की अग्नि प्रज्वलित होने पर शीत उष्ण आदि भोजन से उसे बुझाया जाता है। इस तरह पांच प्रकार की वृत्ति से साधु आहार ग्रहण करते हैं।

शुद्ध अशन कैसे होता है—

कृतकारितानुमत्या मनोवचनकायकान् ।
गुणित्वा नवकोटिभिर्हीनं शुद्धाशनं भवेत् ॥१८२॥

अर्थ—मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणित करने पर नवकोटि हो जाती है। इन नवकोटि से रहित भोजन शुद्ध कहलाता है। अर्थात् यदि मुनि मन, वचन आदि इन नवकोटियों से भोजन नहीं बनवाते हैं तो वह आहार नवकोटिविशुद्ध कहलाता है।

आहार में भावशुद्धि प्रधान है—

अध:कर्मयुत साधुः प्रासुद्रव्येऽपि बंधकः ।
शुद्धमन्वेषयन् सोऽध:कर्माहारेपि शुद्धिभाक् ॥१८३॥

अर्थ—प्रासुक आहार होने पर भी यदि साधु अधःकर्म से भावसहित है तो बंध को प्राप्त कर लेता है। वही साधु शुद्ध आहार की खोज करता हुआ यदि अधःकर्मयुक्त भी आहार कर लेता है तो भी शुद्ध ही है।

अन्य भी अन्तराय होते है—

एतेभ्योऽप्यतिरिक्ताश्च, मता विघ्ना अनेकधा ।
चाण्डालादेः भवेत्[१] स्पर्श प्रधानप्रिययोर्मृति ॥१७८॥

कलहो लोकनिन्दा चेत्, संन्यास. संयतस्य च ।
स्वमौनभङ्गः सहसोपद्रवं भुक्तिसद्मनि ॥१७९॥

इत्यादीन्यन्तरायाणि, ज्ञात्वा गुरुमुखात्त्यजेत् ।
धर्मसंयमरक्षार्थ, निर्वेदादिविवृद्धये ॥१८०॥

अर्थ—इन बत्तीस से अतिरिक्त भी अतराय अनेक प्रकार के माने गये हैं । जैसे कि चाडाल आदि का स्पर्श हो जावे, प्रधान अथवा प्रिय का मरण होने पर, कलह, लोक निंदा, सयतो का सन्यास, अपना मौन भग, आहार भवन मे सहसा उपद्रव हो जाना, इत्यादि अतरायो को गुरु मुख से जानकर धर्म और सयम की रक्षा के लिये तथा निर्वेद, वैराग्य आदि गुणो की वृद्धि के लिए आहार छोड देना चाहिये ।

भावार्थ—उपर्युक्त बत्तीस के अलावा और भी अनेको अतराय हो जाते है जो कि सयम आदि की रक्षा हेतु पाले जाते है । जैसे चाडाल रजस्वला स्त्री आदि को देख लेने पर अथवा उनके शब्दो को सुन लेने पर राजकीय मत्री, राजा आदि के मर जाने पर या अपने किसी इष्ट का मरण हो जाने पर भी अतराय करना होता है । ये सब अतराय गुरु परपरा से जाने जाते है ।

मुनि के आहार की प्रवृत्ति कैसी होती है—

गोचरी भ्रामरी श्वभ्रपूरणी चाक्षमुक्षिणी ।
उदराग्निशमनीति, पञ्चधा मुनिराहरेत् । १८१॥

अर्थ—गोचरी, भ्रामरी, गर्तपूरणी, अक्षमुक्षिणी और उदराग्निप्रशमनी इन पाच प्रकारो से मुनि आहार ग्रहण करते है ।

---

१ [illegible] भोजनं त्यजेत् । षट्प्राभृत, पृ० ४३

भावार्थ—जैसे गाय अपने लिये घास देने वाले की तरफ दृष्टि न डाल कर मात्र घास खा लेती है उसी प्रकार साधु आहार देने वाले के रूप रंग आदि की तरफ न लक्ष्य मात्र योग्य आहार ग्रहण कर लेते हैं। जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट न देकर रस चूस लेता है वैसे ही श्रावकों को कष्ट न देकर निःस्पृह वृत्ति से आहार ले लेते हैं। जैसे किसी भी गड्ढे को भरने के लिये कैसी भी मिट्टी काम में ले ली जाती है वैसे ही उदर गर्त को भरने के लिये सरस, नीरस कैसा भी भोजन किया जाता है। जैसे रत्नों से भरित गाड़ी को इष्ट स्थान पर ले जाने के लिये पहियों में ओंगन देना है उसी प्रकार से रत्नत्रय से भरित शरीर रूपी गाड़ी को मुक्तिनगर में ले जाने के लिये साधु भी आहार लेते हैं। जैसे भांडागार में अग्नि लग जाने पर उसे जैसे तैसे जल से बुझाया जाता है उसी प्रकार उदर में क्षुधा की अग्नि प्रज्वलित होने पर शीत उष्ण आदि भोजन से उसे बुझाया जाता है। इस तरह पांच प्रकार की वृत्ति से साधु आहार ग्रहण करते हैं।

शुद्ध अशन कैसे होता है—

> कृतकारितानुमत्या मनोवचनकायकान् ।
> गुणित्वा नवकोटिभिर्हीनं शुद्धाशनं भवेत् ॥१८२॥

अर्थ—मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणित करने पर नवकोटि हो जाती है। इन नवकोटि से रहित भोजन शुद्ध कहलाता है। अर्थात् यदि मुनि मन, वचन आदि इन नवकोटियों से भोजन नहीं बनवाते हैं तो वह आहार नवकोटिविशुद्ध कहलाता है।

आहार में भावशुद्धि प्रधान है—

> अधःकर्मयुत साधुः प्रासुद्रव्येऽपि बंधकः ।
> शुद्धमन्वेषयन् सोधःकर्माहारेपि शुद्धिभाक् ॥१८३॥

अर्थ—प्रासुक आहार होने पर भी यदि साधु अधःकर्म से सहित है तो बंध को प्राप्त कर लेता है। और साधु शुद्ध आहार की खोज करता हुआ यदि अधःकर्मयुक्त भी आहार कर लेता है तो भी शुद्ध ही है।

पिंडशुद्धि का फल—

नवधा भक्तितो भक्त्या, ससप्तगुणदातृभिः ।
दत्तं भक्तं च भुङ्क्ते यः, त्रिरत्नं साधयेत्त्वरम् ॥१८४॥

अर्थ—जो साधु सातगुण सहित दातारो के द्वारा नवधाभक्ति पूर्वक भक्ति से दिये गये आहार को ग्रहण करता है वह शीघ्र ही रत्नत्रय को सिद्ध कर लेता है । इस प्रकार पिंड शुद्धि प्रकरण पूर्ण हुआ ।

नित्य क्रिया

ध्यानसमाधि सिद्ध्यर्थंवमावश्यकक्रियाविधिम् ।
आर्षमार्गानुसारेण कथयामि समासत. ॥१८५॥

अर्थ—ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिये आर्षमार्ग के अनुसार सक्षेप से आवश्यक क्रिया विधि को कहता हू ।

साधु के अहोरात्र के करने योग्य कायोत्सर्ग—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षट् वंदनेऽष्टौ प्रतिक्रमे ।
व्युत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ स्युश्चाहोरात्रगोचरा ॥१८६॥

अर्थ—स्वाध्याय मे बारह, वदना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योग-भक्ति के दो ऐसे अहोरात्रसबधी अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते है ।

पूर्वाण्हे ह्यपराण्हे च, पूर्वापररात्र्योरपि ।
चतुः स्वाध्यायमाम्नात, त्रिसंध्यं च त्रिवंदना ॥१८७॥

अर्थ—पूर्वाण्ह, अपराण्ह, पूर्वरात्रि और अपररात्रि इन चार कालों मे चार स्वाध्याय माने है तथा तीनो सध्याकालो मे तीन बार वदना होती है ।

दिनांते च निशांतेऽपि हि प्रतिक्रमणं तथा ।
कालयोरनयोरेव, योगग्रहणमोक्षणम् ॥१८८॥

अर्थ—दिवस के अत मे और रात्रि के अत मे ऐसे दो बार प्रतिक्रमण होता है तथा इन्ही दोनो कालो मे रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन किया जाता है ।

इन क्रियाओ मे कौन कौन सी भक्तिया होती है ?—

लघ्व्या श्रुतगणिस्तुत्या, स्वाध्याय प्रारभेत वै ।

श्रुतभक्त्या च निष्ठाप्यः, स्वाध्यायः वाचनादिकः ॥१८९॥

अर्थ—लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय प्रारभ करे, पुन॰ लघु श्रुतभक्ति पूर्वक निष्ठापन करे । यह तीन भक्ति व विधान वाचना आदि स्वाध्याय के लिये है ।

देव वदना की भक्तिया—

चैत्यपञ्चगुरुस्तुत्या, त्रिसंध्य देववदना ।

सैव सामायिक प्रोक्तं, चागमे विधिपूर्वकम् ॥१९०॥

अर्थ—तीनो सध्या कालो मे चैत्यभक्ति और पच गुरु भक्ति पूर्व देव वदना करे । विधि पूर्वक की गई यह वदना ही आगम मे सामायि कहलाती है ।

प्रतिक्रमण और रात्रि योग की भक्तिया—

भक्त्या सिद्धप्रतिक्रांतिवीरतीर्थंकरस्य च ।

अहर्निशाप्रतिक्रान्तौ योगभक्तिश्च योगयोः ॥१९१॥

अर्थ—दैवसिक और रात्रिक, प्रतिक्रमण मे सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रम भक्ति, वीर भक्ति और चतुर्विंशति भक्ति ऐसी चार भक्तिया होती है रात्रियोग ग्रहण करने और विसर्जन करने मे योग भक्ति की जाती है ।

यथोक्तमष्टाविंशत्या, भक्तीनां च विधानतः

कायोत्सर्गाश्च तावन्तः, कर्तव्याः सन्त्यहर्निशम् ॥१९२॥

अर्थ—उपर्युक्त अट्ठाईस भक्तियों के विधान मे अट्ठाईस ही कर्म कायोत्सर्ग हो जाते है जो कि साधुओ का अहर्निश करने चाहिये ।

कृतिकर्म का उपाय—

अष्टाविंशतिव्युत्सर्गाँ, कृतिकर्म क्रियान्मुनिः ।

सर्वान् च क्रियास्वेव, तद्विधिः प्रोच्यतेऽधुना ॥१९२॥

अर्थ—मुनि इन अट्ठाईस कायोत्सर्गों में कृतिकर्म करे। यह कृतिकर्म सम्पूर्ण क्रियाओं में किया जाता है अब उसकी विधि बतलाते हैं।

कृतिकर्म क्या है ?—

द्विनतिस्तु यथाजात, द्वादशावर्तमेव च।
चतु शिरः त्रिशुद्धं च, कृतिकर्म प्रयुञ्जते ॥१६४॥

अर्थ—यथाजात मुनि दो नमस्कार, बारह आवर्त, चार शिरोनति और मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक कृतिकर्म को करते हैं।

कृतिकर्म प्रयोग विधि—

क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं भक्तेरस्या करोम्यहं।
विज्ञाप्येति समुत्थाय, पञ्चाङ्गनतिपूर्वकम् ॥१६५॥

अर्थ—"इस क्रिया में इस भक्ति का कायोत्सर्ग मैं करता हूं" ऐसी विज्ञापना करके उठकर पंचांग नमस्कार करे।

दण्डकयोस्साम्युभयोराद्यंतयोश्चतुःशिरम्।
त्रिन्यावर्ता द्वादशस्यु मध्ये व्युत्सर्गके नतिः ॥१६६॥

अर्थ—सामायिक दण्डक और थोस्सामिस्तव इनके प्रारंभ में और अंत में एक-एक शिरोनति करने से चार शिरोनति होती हैं। तथा इन चारों समय शिरोनति के पूर्व तीन तीन आवर्त करने से बारह आवर्त हो जाते हैं और क्रिया विज्ञापना के अनन्तर तथा दण्डक के बाद अर्थात् थोस्सामि के पूर्व पंचांग नमस्कार करने से दो नमस्कार होते हैं।

स्वाध्याय का काल—

त्रिसंध्यं मध्यरात्रौ च, द्विद्विमुहूर्तं न्यूनकम्।
स्वाध्यायकालाश्चत्वारो, दिक्शुद्धिं तत्कृते क्रियात् ॥१६७॥

अर्थ—तीनों सन्ध्याओं में और दो दो मुहूर्त (डेढ़ डेढ़ घंटे) काल घटाकर शेष रहे चार काल स्वाध्याय के हैं। इन स्वाध्यायों के लिये दिक्-शुद्धि करे।

दिक् शुद्धि विधान—

पूर्वाण्हे नवमंत्रैश्चा-पराण्हे सप्तगाथया ।
प्रदोषे पञ्चभिश्चाशा स्वाध्यायार्थं हि शोधयेत् ॥१९८॥

अर्थ—पूर्वाण्ह काल मे नववारणमोकार मंत्रो से, अपराण्ह मे सात वार णमोकार मंत्रो से और पूर्वरात्रिक मे पाच मंत्रो से स्वाध्याय हेतु दिशाओ की शुद्धि करे ।

पश्चिमरात्रिस्वाध्याये, न दिक्शुद्धिर्मतागमे ।
सूत्रं विना तदान्यद्धि, शास्त्र पठयान्न दुष्यते ॥१९९॥

अर्थ—पश्चिमरात्रि के स्वाध्याय हेतु आगम मे दिक्शुद्धि का विधान नही है । इसलिये उस समय सूत्रग्रन्थो के बिना अन्य शास्त्रो को पढना चाहिये, इसमे दोष नही है ।

प्रतिक्रमण के भेद—

ईर्यादिननिशापक्षचातुर्मासाब्दकोत्तमैः ।
एभिर्निमित्तजैरुक्ता प्रतिक्रमाश्च सप्तधा ॥२००॥

अर्थ—ईर्यापथ गमन, दिवस, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास, वर्ष और उत्तमार्थ इन सात निमित्तो मे होने वाले प्रतिक्रमण सात प्रकार होता है ।

प्रत्येक प्रतिक्रमण के लक्षण—

मार्गशुध्दयर्थमोर्या स्यात्, दैवसिको दिनांतके ।
रात्र्यंते रात्रिको ज्ञेयः पक्षाते चैव पाक्षिकः ॥२०१॥

अर्थ—मार्ग शुद्धि के लिये किया गया प्रतिक्रमण ईर्यापथ है, दिन के अन्त मे होने वाला दैवसिक है, रात्रि के अन्त मे होने वाला रात्रिक है और पक्ष के अन्त मे अर्थात् चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को होने वाला प्रतिक्रमण पाक्षिक है ।

कार्तिकी फाल्गुनी पूर्णा, स्याच्चातुर्मासिकस्तयो ।
वर्षान्तापाढपूर्णाया, वार्षिकश्चोत्तमार्थिक ॥२०२॥

अर्थ—कार्तिक और फाल्गुन की पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होता है, वर्ष के अन्त में आषाढ़ मास की पूर्णिमा को होने वाला प्रतिक्रमण वार्षिक है और अन्तिम प्रतिक्रमण औत्तमार्थिक है।

भावार्थ—चतुर्दशी को भी प्रतिक्रमण किया जाने का विधान है।

सल्लेखनोत्तमार्थेऽयमहोरात्रं च प्राक्त्रय. ।
शेषा नैमित्तिकास्तांश्च, यथाकाल क्रियान्मुनिः युग्मं ॥२०३॥

अर्थ—सल्लेखना रूप उत्तमार्थ काल में यह औत्तमार्थिक होता है। इनमें से पहले के तीन प्रतिक्रमण अहोरात्र संबंधी हैं, बाकी के चार नैमित्तिक हैं। मुनि यथाकाल इन प्रतिक्रमणों को करे।

रात्रियोग ग्रहण-विसर्जन विधि—

अद्य रात्रौ वसत्यामस्यां स्थास्यामि वदन्निति ।
योग लात्वा योगभक्त्या, सायं प्रातर्पुनस्त्यजेत् ॥२०४॥

अर्थ—"आज रात्रि में मैं इसी वसतिका में रहूँगा" इस प्रकार कहते हुये योगभक्ति पढ़कर सायंकाल में रात्रियोग ग्रहण करके पुन प्रातःकाल इसी योगभक्ति द्वारा उस नियम को समाप्त कर देवे।

सामायिक में कृतिकर्म—

सामायिकविधौ स्यात्षट्, कृतिकर्म जिनोदितम् ।
तत्पूर्वकं क्रियात्साधुश्चैत्यपञ्चगुरुस्तुती ॥२०५॥

अर्थ—सामायिक की विधि में जिनेन्द्र देव द्वारा कथित छह कृति-कर्म होते हैं। साधु सामायिक में इन कृतिकर्म पूर्वक चैत्यभक्ति और पंच गुरुभक्ति को करे।

आर्या—स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रियारमावर्ताः ।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ॥२०६॥

अर्थ—१. अपनी स्वाधीनता, २. तीन प्रदक्षिणा, ३ तीन वार निषद्य बैठना, ४ तीन वार कायोत्सर्ग, ५. बारह आवर्त और ६. चार शिरोनति ये छह कृतिकर्म है।

आर्या—सिद्धांतेऽप्युक्तं स्यात्, "आदाहीणं पदाहिणं तिखुत्तं ।
तिऊणदं चदुस्सिरं, वारसावत्त" चेति सामयिके ॥२०७॥

अर्थ—सिद्धात ग्रन्थ मे भी कहा है, कि सामायिक मे "आदाहं पदाहिण तिखत्तं तिऊणद चदुस्सिर वारसावत्त चेदि ।" अर्थात् आत्माधीनता, प्रदक्षिणा, तीन भक्ति सबधी तीन कायोत्सर्ग, तीन बार बैठना, चार शिरोनति और बारह आवर्त ऐसे सामायिक मे यह कृतिकर्म होते हैं

उसी का स्पष्टीकरण—

स्वतंत्रो वंदनाकर्ता, जिनगेहादिक विशेत् ।
जिनं नत्वा तत साधुः प्राक् कुर्यात् त्रिःप्रदक्षिणाम् ॥२०८॥

क्रियाविज्ञापने युग्मभक्त्याञ्चलिकयोस्त्रिधा ।
निषद्या च त्रिवारं च, त्रिभक्तीना तनूज्झने ॥२०९॥

दण्डकस्तवयोराद्यो त्रिन्यावर्तास्तथान्तयोः ।
चतुःशिरोनतिश्चैव कृतिकर्माण्यमूनि षट् ॥२१०॥

अर्थ—१. वदना करने वाला साधु स्वतत्र हुआ जिन भवन आदि जावे, २ वहां पहले जिनेन्द्र देव को नमस्कार करके पुन तीन प्रदक्षि देवे। ३ प्रथम क्रिया की विज्ञापना मे पुन चैत्यभक्ति की अचलिक तथा पचगुरु भक्ति की अचलिका मे ऐसे तीन बार बैठकर क्रिया क ४ तीन भक्ति सबधी तीन कायोत्सर्ग करना ५ सामायिक दडक चतुर्विशतिस्तव इन दोनो की आदि मे और अन्त मे ऐसे चार बार शिरो करना तथा ६ दडक और स्तव के आदि और अन्त मे तीन तीन अ ऐसे बारह आवर्त करना ये सब छह कृतिकर्म होते हैं।

भावार्थ—यह सब प्रयोग मुद्रित देववदना विधि मे यथास्थान दिख गया है। इसमे जो अन्त मे चार शिरोनति और बारह आवर्त है वे

भक्ति सबंधि एक कायोत्सर्ग से सबंधित है। तीन भक्तियों के तो तिगुने हो जाते हैं तथा चैत्यभक्ति के समय भी जिनदेव की प्रतिमाओं की प्रदक्षिणा के समय चारों दिशाओं में भी तीन-तीन आवर्त एक-एक शिरोनति करने से आवर्त शिरोनति की संख्या भी बढ़ जाती है।

सामायिक की प्रयोग विधि—

आर्या—सामायिकं 'णमो अरहंताण' मिति प्रभृत्यथ स्तवनम्।
थोस्सामीत्यादि जयति भगवानित्यादि वंदनां युञ्ज्यात् ॥२११॥

अर्थ—'णमो अरहंताण' इत्यादि से लेकर 'दुच्चरियं वोस्सरामि' तक स्तवन 'सामायिक दंडक' कहलाता है। 'थोस्सामि हं जिणवरे' से लेकर 'मम दिसंतु' पर्यंत स्तवन थोस्सामिस्तव है। तथा "जयति भगवान् हेमाम्भोज" इत्यादि चैत्य भक्ति बोलना वंदना है। यही सब विधि सामायिक में होती है।

वन्दना के समय की मुद्रायें—

वंदनायां चतुर्मुद्रा, मुक्ताशुक्तिश्च वंदना।
जैनी यौगिकी मुद्रा, यथास्थाने प्रयुज्यताम् ॥२१२॥

अर्थ—वन्दना के प्रयोग में चार मुद्रायें होती हैं। मुक्ताशुक्ति मुद्रा, वंदनामुद्रा, जिनमुद्रा और योगमुद्रा यथा स्थान में इनका प्रयोग करना चाहिये।

मुद्रा के लक्षण—

मुक्ताशुक्तिः करद्वंद्वमिलितं विकचाञ्जलि।
वंदनोपविश्य स्थित्वा, यौगी जैनी तनूत्सर्गे ॥२१३॥

अर्थ—दोनों हाथ को मिलाकर जोड़ना मुक्ताशुक्ति मुद्रा है, वन्दना के समय मुकुलित अंजलि करना वन्दना मुद्रा है, बैठकर कायोत्सर्ग करने में योगमुद्रा और खड़े होकर कायोत्सर्ग करने में जिनमुद्रा होती है।

कब कौन-सी मुद्रा होती है—

स्वमुद्रा वंदने मुक्ता शुक्तिः सामायिकस्तवे ।
योगमुद्रास्यया स्थितया, जिनमुद्रा तनूज्झने ॥२१४॥

अर्थ- वदना करते समय अर्थात् चैत्य भक्ति-पच गुरुभक्ति पढते समय वदना मुद्रा होती है। सामायिकदडक और थोस्सामिस्तव के समय मुक्ताशुक्ति मुद्रा होती है। बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा होती है तथा खडे होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा होती है।

सामयिक मे किन-किन क्रियाओ मे खडे होना चाहिये—

दण्डकस्तवव्युत्सर्गे, चैत्यभक्त्यादिवंदने ।
उद्भीभूय क्रियां कुर्यात्, चैत्यभक्तौ प्रदक्षिणाम् ॥२१५॥

अर्थ—सामायिक दडक, थोस्सामि स्तव, कायोत्सर्ग और चैत्य भक्ति आदि भक्ति पाठ द्वारा वदना करने मे खडे होकर क्रिया करे तथा चैत्य भक्ति पढने मे प्रदक्षिणा देवे।

किन-किन क्रियाओ मे बैठना चाहिये—

प्रतिभक्त्यञ्चलिकाया, क्रियाविज्ञापने तथा ।
उपविश्य विधि कुर्यात्, पञ्चागनमनेऽपि च ॥२१६॥

अर्थ—प्रत्येक भक्ति की अचलिका करने मे तथा क्रिया के विज्ञापन मे और पचाग नमस्कार मे भी बैठकर विधि करे।

एवं विधि विधायासौ, ध्यायेत्कालेऽवशेषके ।
मुहूर्तान्त जघन्यं हि, कालं सामायिके मतम् ॥२१७॥

अर्थ—इस प्रकार विधि को करके मुनि अवशेष काल मे ध्यान करे क्योंकि सामायिक मे एक मुहूर्त पर्यंत काल तो जघन्य रूप मे ही माना है।

पिण्डस्थप्रमुखध्यानमभ्यस्येदप्रमादत ।
शुद्धात्मध्यानसंसिद्ध्यै यथागमविधानतः ॥२१८॥

अर्थ—शुद्धात्मा के ध्यान की सिद्धि के लिये वह साधु आगम के
न के अनुसार प्रमाद रहित होकर पिंडस्थ आदि ध्यान का अभ्यास करे।

सामायिक का काल—

एकद्वित्रिमुहूर्तान्त, जघन्यमध्यमोत्तमा ।
सामायिकविधेःकाला यथाशक्ति श्रयेच्यताम् ॥२१९॥

अर्थ—सामायिक विधि का काल क्रम से एक मुहूर्त जघन्य है, दो
से मध्यम है और तीन मुहूर्त पर्यंत काल उत्कृष्ट है। अपनी शक्ति के
नुसार इन कालों का आश्रय लेना चाहिये।

दि खड़े होने की शक्ति न हो तो बैठकर वन्दना करे—

उद्भूय वदते देवमप्यशक्त्योपविश्य च ।
पर्यङ्कायासनात् भक्त्या, स्वाध्यायादिक्रिया भजेत् ॥२२०॥

अर्थ—साधु खड़े होकर देव वंदना करे और यदि शक्ति न हो तो
पर्यंक आसन आदि आसनों से बैठकर भी वंदना कर सकते हैं तथा पर्यंक
आदि आसनों से ही बैठकर भक्तिपूर्वक स्वाध्याय आदि क्रियायें करे।

ये सामायिक प्रतिक्रमण आदि पाठ कहां हैं—

ग्रन्थे क्रियाकलापे हि, सर्वं विधिवत् वर्तते ।
वंदना प्रतिक्रान्त्यादि, तत्रैव विधीयताम् ॥२२१॥

अर्थ—क्रिया कलाप नामक ग्रन्थ में वंदना प्रतिक्रमण आदि सभी
विधिवत् हैं (छपे हैं) उनको उसी प्रकार से करना चाहिये।

देव वंदना के अनन्तर गुरु वन्दना विधि—

लघुसिद्धगणिस्तुत्या, वन्द्यः सूरिर्गवासनात् ।
सैद्धान्तोऽन्तः श्रुतस्तुत्या, सिद्धमध्येतरो मुनिः ॥२२२॥

अर्थ—मुनि गवासन से बैठकर लघु सिद्ध भक्ति, लघु आचार्य भक्ति
पूर्वक आचार्य की वन्दना करे, यदि आचार्य सिद्धान्तविद हों तो बाद में

लघु श्रुत भक्ति भी बोलना चाहिये तथा सामान्य मुनि की वंदना लघु सिद्ध भक्ति पढ़ी जाती है।

वन्दना के अनन्तर कार्य—

पाणिरेखाप्रकाशे चाहर्निशान्ते प्रयत्नतः।
पिच्छेन शोधयेन्नित्यं, तृणकाष्ठादिसंस्तरम् ॥२२३॥

अर्थ—हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश के हो जाने पर र अंत में प्रातःकाल और ऐसे ही प्रकाश के समय दिन के अंत में सा मे प्रयत्नपूर्वक तृण, फलक आदि संस्तर को मयूर पंख की पिच्छी से ही शोधन करना चाहिये।

कायोत्सर्ग का लक्षण—

नवपञ्चनमस्कारे, गाथात्र्यंशे कृते सति।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, कायोत्सर्गे क्रियान्मुनिः ॥२२४॥

अर्थ—नव बार पंच नमस्कार मंत्र के बोलने पर गाथा के ती करने पर एक कायोत्सर्ग में मुनि सत्ताईस उच्छ्वास करे।

भावार्थ—'णमो अरहंताणं' बोलकर श्वास अन्दर खींचना और सिद्धाणं' बोलकर श्वास बाहर छोड़ना यह एक उच्छ्वास कहलात इसी तरह 'णमो आइरियाणं' बोलकर श्वास खींचना और 'णमो उवज् बोलकर श्वास बाहर फेंकना, ऐसे ही "णमो लोए" बोलकर श्वास और 'सव्व साहूणं' बोलकर श्वास छोड़ना इस प्रकार से एक बार णमो मंत्र में तीन उच्छ्वास होने से नव बार नमस्कार मंत्र के जाप्य में स उच्छ्वास हो जाते हैं।

किस क्रिया में कितने उच्छ्वास होते हैं—

आन्हिकेऽष्टशतं रात्रिमदेऽर्धं पाक्षिके तथा।
चतुःशतं वीरभक्त्यादौ, उच्छ्वासानां शतत्रयम् ॥२२५॥

चतुःपञ्चशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसंभवे ।
इत्युच्छ्वासास्तनूत्सर्गे, पञ्चस्थानेषु निश्चिताः ॥२२६॥
स्वाध्यायारम्भनिष्ठाप्ये, देवगुर्वादि वंदने ।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाश्चेर्यादौ पञ्चविंशतिः ॥२२७॥
नियमान्ते येप्युच्छ्वासा व्युत्सर्गको हि गण्यते ।
वाचिको पांशुचैत्तेन त्रेधा जप्यश्च शक्तितः ॥२२८॥

अर्थ - दैवसिक प्रतिक्रमण में एक सौ आठ, रात्रि प्रतिक्रमण में चौवन, र पाक्षिक प्रतिक्रमण में तीनसौ उच्छ्वास में कायोत्सर्ग वीर भक्ति की रि में करना चाहिये। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चारसौ और वार्षिक तक्रमण में पांचसौ उच्छ्वास होते हैं। इन पांच स्थानों के कायोत्सर्ग उपर्युक्त उच्छ्वास निश्चित हैं।

स्वाध्याय के प्रारंभ और समाप्ति में, देव वंदना और गुरु वंदना में सत्ताईस उच्छ्वास में कायोत्सर्ग होता है तथा ईर्यापथ आदि में मलमूत्र ग करने, गुरु की निषद्या स्थान वंदना और पंच कल्याण की निषद्या स्थान दना में पच्चीस उच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है।

योग भक्ति के प्रारम्भ में जो भी उच्छ्वास होते हैं यहां उनकी एक योत्सर्ग नाम से गणना की गई है। इस महामंत्र के जाप्य में वाचिक, पांशु और मानस ऐसे तीन भेद होते हैं। जिनको अपनी शक्ति के अनुसार रना चाहिये।

भावार्थ—जो उच्चारण ऐसा हो कि पास में बैठे हुये भी सुन लें ह वाचिक जप है, जिसका उच्चारण पास में बैठे हुये जन न समझ कें वह उपांशु जप है और मन में चिंतन मात्र हो मानस कहलाता है।

वंदना और कायोत्सर्ग के दोष—

द्वात्रिंशद्वंदनेदोषास्तावन्तोऽपितनूत्सने ।
दोषान् मुक्त्वा भजेन्नित्यं, कायोत्सर्गं च वंदनाम् ॥२२९॥

अर्थ—वंदना में बत्तीस दोष होते हैं और उतने ही दोष कायोत्सर्ग में होते हैं। इन दोषों को छोड़कर नित्य ही कायोत्सर्ग और वंदना करना चाहिये।

वंदना के बत्तीस दोष—

अनादृतं तथा स्तब्ध, प्रविष्टः परिपीडितम्।
दोलायितमङ्कुशितं, तथा कच्छपरिङ्गितम् ॥२३०॥
मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो, वेदिकाबद्ध एव च।
भयेन चापि विभ्यत्वं ऋद्धिगौरवगौरवे ॥२३१॥
स्तेनितं प्रतिनीतं च, प्रदुष्टस्तर्जितं तथा।
शब्दश्चहीलितं चापि, त्रिवलित च कुञ्चित ॥२३२॥
दृष्टोऽदृष्टस्तथा चापि संघस्य करमोचनम्।
आलब्धश्चाप्यनालब्धः हीनमुत्तरचूलिका ॥२३३॥
मूकश्च दर्दुरं चापि, चुलुलित च पश्चिमम्।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्त, कृतिकर्म प्रयुञ्जताम् ॥२३४॥

अर्थ—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परीपीडित, दोलायित, अङ्कुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, बिभ्यत्व, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दर्दुर, और चुलुलित ये बत्तीस दोष हैं। इन दोषों से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करना चाहिये।

विशेषार्थ—इनके पृथक् पृथक् लक्षण का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ अनादृत—आदर के बिना देव वंदना (सामायिक) करना।

२ स्तब्ध—विद्यादि गर्व से युक्त होकर कृतिकर्म करना।

३ प्रविष्ट—पंचपरमेष्ठियों के अतिनिकट होकर कृतिकर्म अर्थात् एक हाथ दूरी से वंदना करने का विधान है उसकी अपेक्षा न करके बैठकर करना।

४. परिपीडित—अपने हाथो से घुटनो को स्पर्श करते हुये वंदना करना।

५ दोलायित—झूला के समान हिलते हुये अथवा मन में संशय करते हुये वंदना करना।

६ अंकुशित—अंकुश के समान हाथ के अंगूठे बनाकर ललाट पर रखना।

७ कच्छपरिंगित—बैठकर कछुवे के समान आगे चलना।

८ मत्स्योद्वर्त—मत्स्य के समान कटी भाग से पलटकर वंदना करना।

९. मनोदुष्ट—आचार्य के प्रति द्वेष धारण करना।

१०, वेदिकाबद्ध—वेदिकाकार से हाथों को बद्ध करना अथवा दोनों घुटनों को बद्ध करके वंदना करना।

११ भयदोष—मरण आदि सात भय से डर कर वंदना करना।

१२. विभ्यत्व—गुरु आदि से भय धारण कर वंदना करना।

१३ ऋद्धिगौरव—चातुर्वर्ण्य मेरा भक्त होगा ऐसे अभिप्राय से वंदना करना।

१४ गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रकट करके अथवा [illegible] के लिये वंदना करना।

१५. स्तेनित—आचार्य आदि को मालूम न पड़े इस प्रकार वंदना करना।

१६. प्रतिनीत—देवगुरु आदि से प्रतिकूलता धारण कर वंदना करना।

१७. प्रदुष्ट—अन्यों के साथ वैर, कलह आदि करके क्षमा मांगना न करते हुये वंदना करना।

१८. तर्जित—दूसरों को भीति उत्पन्न करके वंदना करना। अथवा आचार्य आदि द्वारा तर्जित किये जाने पर वंदना करना।

१९. शब्द—शब्द बोलते हुये मौन छोड़कर वंदना करना।

२०. हीलित—आचार्यों का पराभव करके वंदना करना।

२१ त्रिवलित—कटि, हृदय और कंठ मोड़कर अथवा ललाट में तीन [illegible] वंदना करना।

२२ कुंचित—संकुचित किये हाथों से मस्तक को स्पर्श करते हुये वंदना करना।

२३. दृष्ट—आचार्य अपने को देखते हो तो यथाविध वदना करना अन्यथा स्वच्छदता से करना ।

२४. अदृष्ट—आचार्य आदि को पृथक्-पृथक् न देखकर, भूमि और शरीर को भी पिच्छी से परिमार्जन न करके अथवा आचार्य आदि के पीठ की तरफ खडे होकर वदना करना ।

२५ सघकरमोचन—सघ को मैं यदि वदनारूपी कर भाग न दूगा तो सघ मेरे ऊपर रुष्ट होगा ऐसा समझ कर वदना करना ।

२६ आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके वदना करना ।

२७ अनालब्ध—उपकरण आदि मुझ को प्राप्त होगे ऐसी बुद्धि से वदना करना ।

२८. हीनदोष—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित वदना करना ।

२९ उत्तरचूलिका—वदना को जल्दी पढ लेना और उसकी चूलिका अचलिकाओ को दीर्घकाल से करना ।

३०. मूकदोष—गूगे के समान पाठ को मुख मे बोलना अथवा वदना करते हुये हुकार अगुली आदि के द्वारा सज्ञा करना ।

३१ दर्दुर—अपने शब्दो से अन्यो के शब्दो को पराभूत करके वदना करना ।

३२ चुलुलित—एक स्थान मे खडे होकर हस्ताजलि को घुमाकर सबकी वदना करना, अथवा पचम आदि स्वर से गा गाकर वदना करना ।

इन दोषो से रहित वदना निर्दोष होती है । वह कर्मनिर्जरा के लिये कारणभूत है ।

कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष के नाम—

आर्या—तुरगो वल्ली स्तंभः, कुड्यं माला शबरवधूर्निगडः ।
लंबोत्तरः स्तनदृष्टिः, वायसखलिनं युगं कपित्थ च ॥२३५॥
शिरःप्रकम्पितमूकत्वेऽङ्गुलिभ्रू विकृती च वारुणीपायी ।
आलोकनं दिशानां, ग्रीवोन्नमन प्रणमनं च ॥२३६॥

निष्ठीवनं तथा च स्वांगामर्श मिमे च द्वात्रिंशत् ।
एतद्दोषैर्हीनं, कायोत्सर्गं मुनिः कुर्यात् ॥२३७॥

अर्थ—घोटक दोष, लता दोष, स्तंभ दोष, भित्ति दोष, माला दोष, शबरवधू दोष, निगल दोष, लबोत्तर दोष, स्तनदृष्टि दोष, वायस दोष, खलीन दोष, युगदोष, कपित्थ दोष, शिरःप्रकंपित दोष, मूकदोष, अंगुलिदोष, भ्रूविकार दोष, वारुणीपायी दोष, दिगवलोकन दोष, ग्रीवोन्नमन दोष, प्रणमन दोष, निष्ठीवन दोष, और अंगामर्श दोष ये बत्तीस दोष हैं। मुनि इन दोषों से रहित कायोत्सर्ग करें। इनमें दिगवलोकन दोष में दशदिशा अवधि दश दोष हो जाने से बत्तीस होते हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक के लक्षणों का स्पष्टीकरण—

१. घोटक—घोड़े के समान एक पांव उठाकर अथवा नमकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

२. लता—वायु से हिलती हुई लता के समान चंचल होकर कायोत्सर्ग करना।

३. स्तंभ—स्तंभ का आश्रय लेकर या स्तंभवत् शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करना।

४ कुड्यदोष—भित्ती का आधार लेना या अन्य किसी का आधार लेना।

५. माला—पीठादि के ऊपर आरोहण करना या मस्तक के ऊपर कोई वस्तु का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना।

६. शबरवधू भिल्लनी के समान गुह्यांग को हाथ से आच्छादित करना अथवा जंघा से जंघा को पीड़ित करके खड़े होना।

७ निगल—बेड़ियों से बंधे हुये मनुष्य के समान पैरों से बहुत अन्तर [illegible] खड़े होना।

८ लबोत्तर—नाभि के ऊपर का भाग कायोत्सर्ग के समय झुकाकर खड़े होना।

९ स्तनदृष्टि—कायोत्सर्ग करते समय अपने स्तनों पर दृष्टि रखना।

१०. वायस—कायोत्सर्ग के समय कौवे के समान इधर उधर देखना।

११. खलीन—जैसे घोड़ा मुख से लगाम चबाता है वैसे दातो को कड कड करते हुये कायोत्सर्ग करना।

१२. युगदोष—जैसे जूअे से पीडित वैल अपनी ग्रीवा फैला देता है वैसे ही अपनी ग्रीवा फैलाकर कायोत्सर्ग के लिये खडे होना।

१३ कपित्थ—कैथ के फलाकार मुट्ठियो को करके कायोत्सर्ग करना।

१४. शिर प्रकंपित—कायोत्सर्ग के समय मस्तक को हिलाना।

१५. मूकदोष—कायोत्सर्ग के समय मूकवत् मुख विकार करना।

१६ अगुलिदोष—कायोत्सर्ग मे अगुली से गणना करना।

१७ भ्रू विकार—कायोत्सर्ग के समय भौहो को चढाना।

१८ वारुणीपायी—मद्यपायी के समान कायोत्सर्ग के समय इधर उधर झुक जाना।

१९ से २८ दिगवलोकन—कायोत्सर्ग मे पूर्व आदि दश दिशाओ को देखना।

२९ ग्रीवोन्नमन—कायोत्सर्ग के समय अपनी ग्रीवा ऊपर अधिक उठाना।

३०. प्रणमन—कायोत्सर्ग के समय अपनी ग्रीवा अधिक नीचे झुकाना

३१ निष्ठीवन—कायोत्सर्ग करते समय थूकना खात्कार करना।

३२ अगामर्श—कायोत्सर्ग के समय अपने अगो को स्पर्श करना।

ये बत्तीस दोष कायोत्सर्ग करते समय छोड देने चाहियें।

अब नित्य नैमित्तिक क्रियाओ को कहते हुये पहले नित्य क्रिया को बताते है—

कस्मिन् काले कथं भूयात् नित्या नैमित्तिका. क्रियाः।
त: सर्वाश्च प्रवक्ष्येहं, तत्क्रिया फल लब्धये ॥२३८॥

अर्थ—नित्य क्रियायें और नैमित्तिक क्रियायें किस काल मे तथा कैसे की जाती है उन क्रियाओ के फल की प्राप्ति के लिये मैं उन सभी क्रियाओ

को कहूंगा। उसमे निद्रा से जगते ही क्रियायें प्रारम्भ हो जाती हैं। तो पहले अपर रात्रिक स्वाध्याय किया जाता है।

अपर रात्रिक स्वाध्याय का काल—

निद्रामपास्य स्वाध्याय द्विनाड्यूर्ध्वे निशीथके।

कृत्वा निष्ठापयेद् यावद् द्विनाड्यूने प्रभातके ॥२३९॥

अर्थ—अर्ध रात्रि के दो घड़ी बाद निद्रा को दूर करके वैरात्रिक स्वाध्याय करे पुनः प्रभात-सूर्योदय मे दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय का निष्ठापन कर देवे।

पूर्वाह्न स्वाध्याय हेतु दिक् शुद्धि विधान—

बहिर्निष्क्रम्य दिक्शुद्ध्यै, नवगाथा दिशं प्रति।

पौर्वाण्हिकस्वाध्यायार्थं पठन् दिक्शोधनं क्रियात् ॥२४०॥

अर्थ—पौर्वाण्हिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि के लिये बाहर निकल कर प्रत्येक दिशा मे नव नव बार णमोकार मंत्र पढ़ते हुये दिशाओं का शोधन करे।

रात्रिक प्रतिक्रमण और पूर्वाह्न सामायिक का काल—

रात्रिप्रतिक्रमं कृत्वा, रात्रियोग विसर्जयेत्।

सूर्योदये च पूर्वाण्हे, कुर्यात् सामायिकं विधिम् ॥२४१॥

वसत्यां जिनगेहे वा, विशुद्ध्या देववन्दनाम्।

कृत्वा नत्वा च गुर्वादीन्, शोधयेत्तस्त्वरादिकम् युग्मं ॥२४२॥

अर्थ—पुनः रात्रिक प्रतिक्रमण करके रात्रियोग का निष्ठापन कर देवें। पुनः सूर्योदय के समय पौर्वाण्हिक सामायिक विधि करे।

वसतिका मे अथवा जिन मंदिर मे यथासमय काल की शुद्धिपूर्वक देव वन्दना (सामायिक) करके पुन गुरु आदि को नमस्कार करके उसके बाद स्वर नाड़ि का शोधन करे।

पौर्वाण्हिक स्वाध्याय का काल—

सूर्योदयान्मुहूर्तोर्ध्वे स्वाध्यायं पूर्ववत् क्रियात् ।
मध्यान्हेऽथ मुहूर्तान, निष्ठापयेच्च तत्पुनः ॥२४३॥

अर्थ—सूर्योदय के एक मुहूर्त बाद पूर्ववत् पौर्वाण्हिक स्वाध्याय करे तथा मध्यान्ह काल के एक मुहूर्त पहले ही उसका निष्ठापन कर देवे।

पुन. अपराण्हिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि और मध्यान्ह सामायिक आदि—

अपराण्हे स्वाध्यायार्थं, दिक्शुद्धिं च ततः क्रियात् ।
कृत्वा सामायिकं नत्वा, गुरुंश्च विधिवत् पुनः ॥२४४॥

अर्थ—पुन. अपराण्हिक स्वाध्याय के लिये दिक्शुद्धि करे। और मध्यान्ह सामायिक करके विधिवत् गुरुओ को नमस्कार करे।

आहार ग्रहण विधि—

उपवासे सति कुर्यात् ध्यानमाराधनादिकम् ।
अन्यथा प्राणयात्रायै, आहारार्थं व्रजेन्मुनिः ॥२४५॥

अर्थ—पुन. यदि उस दिन उपवास होवे तो ध्यान और आराधना आदि करे, अन्यथा—यदि उपवास नही है तो मुनि अपने प्राणो की रक्षा के लिये आहार हेतु गमन करे।

पिच्छीकमंडलु हस्ते, धृत्वा गच्छेच्च मौनतः ।
प्रतिग्रहे कृते भक्तैस्तद् द्वारे तिष्ठतात्? तदा ॥२४६॥

अर्थ—पुन वह मुनि पिच्छी कमण्डलु को हाथ मे लेकर मौन से गमन करे। भक्तो के द्वारा पडगाहन किये जाने पर वह उनके द्वारे पर खड़ा हो जावे।

श्रावक के द्वारा भक्ति आदि किये—

आर्या—प्रतिग्रहमुच्चस्थान, पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
मन वचन कायशुद्धिर्भोजन शुद्धिश्च नवविधा भक्तिः ॥२४७॥

अर्थ—पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, चरण प्रक्षालन करना, पूजन करना, प्रणाम करना, मन, वचन, काय और भोजन की शुद्धि कहना यह नवधा भक्ति कहलाती है ।

आर्या—श्रद्धा भक्तिस्तुष्टिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्वं ।
सप्तगुणास्तद् युक्तैर्दत्तं भक्तं च गृण्हीयात् ॥२४८॥

अर्थ—श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विवेक, निर्लोभता, क्षमा और सत्व ये सात गुण माने गये हैं । इन गुणों से युक्त श्रावकों के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण करे ।

अनुष्टुप्—नवधाभक्तिपूर्णायां प्रत्याख्यानं विसृज्य सः ।
सिद्धभक्त्या च लघ्व्या स्वकरौ प्रक्षालयेत्पुनः ॥२४९॥

स्थित्वाञ्जलिपात्रेण, भुङ्क्ते तदनु तत्क्षणम् ।
प्रत्याख्यानं गृहीत्वासौ, सिद्धभक्त्या स चाव्रजेत् ॥२५०॥

लघुसिद्धयोगिभक्त्या सूरे पार्श्वे पुनश्च तत् ।
प्रत्याख्यानं स आदाय, सूरिर्भक्त्या स्तुयात् गुरुम् ॥२५१॥

(त्रिभि कुलकम्)

अर्थ—नवधा भक्ति पूर्ण हो जाने पर साधु लघु सिद्ध भक्ति पूर्वक, पहले दिन के ग्रहण किये गये प्रत्याख्यान का विसर्जन करके पुनः अपने हस्त प्रक्षालित करे । अनन्तर वहीं ठहर कर अंजलि रूप पात्र बनाकर उसमें आहार ग्रहण करके पुनः तत्क्षण ही लघु सिद्ध भक्ति पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करके अपने स्थान पर जाते हैं । वहां आकर पुनः [illegible] आचार्य के पास लघु सिद्ध भक्ति और लघु योग भक्ति को करके

आचार्य देव से प्रत्याख्यान ग्रहण करके आचार्य भक्तिपूर्वक आचार्य की वंदना करे।

प्रतिक्रामेत् गुरोरन्ते, पुनः गोचारदोषकम्।
ततोऽपराण्ह स्वाध्यायं, विधिवत् कुरुते मुदा ॥२५२॥

अर्थ—पुन: गुरु के निकट मे गोचार सबंधि जो कोई दोष हुये हों उनका प्रतिक्रमण करे। अनतर प्रसन्न मन से विधिवत् अपराण्ह स्वाध्याय करे।

आहार का काल—

त्रिनाडीगतयोर्भुक्ते सूर्योदयास्तयोरपि।
एकद्वित्रिमुहूर्तेषु, कालस्त्रेधोत्तमादितः ॥२५३॥

अर्थ—सूर्योदय के अनतर तीन घडी काल हो जाने के बाद और सूर्यास्त के तीन घडी पहले तक साधु के आहार का काल माना गया है जो कि एक मुहूर्त प्रमाण काल उत्तम है, दो मुहूर्त प्रमाण मध्यम है और तीन मुहूर्त प्रमाण काल जघन्य है। यह आहार का काल है।

वर्तमान मे आहार का समय—

मध्यसामायिकात्प्रागेवाद्यत्वे साधवोऽत्र वै।
आहारंते हि गृण्हंति, पश्चादपि च जातुचित् ॥२५४॥

अर्थ—वर्तमान समय मे साधुजन मध्यान्ह सामायिक के पहले ही (प्रात ९ बजे से ११ बजे तक प्राय) आहार ग्रहण करते है। कदाचित् सामायिक के बाद भी ग्रहण करते हैं। अर्थात् शास्त्र मे मध्यान्ह सामायिक के अनतर (बारह बजे के बाद) आहार का काल कहा है किन्तु वर्तमान पहले आहार करके पश्चात् सामायिक करते हैं। कदाचित् विशेष कार आगम आदि के निमित्त से सामायिक के अनतर भी आहार करते है।

दिन मे एक बार ही आहारार्थ निकलना—

दिवसे ह्येकवारं च भिक्षार्थं निःसरेन्मुनिः।
जात्वलाभे पुनस्तस्मिन्नन्ह्युपवास माचरेत् ॥२५५॥

क्लम-थकान को दूर करने के लिये ही यह स्वल्प निद्रा आगम मे कही गई है।

भावार्थ—ध्यान, अध्ययन, स्वाध्याय, विहार आदि क्रियाओं के करने से जो शरीर मे थकान आती है उसको दूर करने के लिये ही आगम मे साधुओ को स्वल्प निद्रा लेने का विधान है। यदि इतनी निद्रा से थकान दूर न हो तथा स्वास्थ्य बिगडता हो तो अपने शरीर स्वास्थ्य के अनुरूप नि लेवे। वर्तमान मे आयुर्वेदिक शास्त्र के अनुसार प्राय. स्वस्थ जना को कम से कम छह घटे निद्रा लेने का कथन है। प्रत्येक साधु को अपने श को संभालते हुये ही कार्य करना होता है अन्यथा वह अस्वस्थ होकर सा यिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाओ मे भो बाधा पहुचा देता है।

यह अहोरात्र के समय का विभाग उत्कृष्ट है—

समयस्य विभागोऽय मुत्कृष्टः श्रुतौ मतः।
विहारादिक्रियांकर्तु स्वाध्यायकालमल्पयेत् ॥२६०॥

अर्थ—शास्त्र मे यह समय का विभाजन उत्कृष्ट रूप से कहा गया साधु विहार आदि क्रिया को करने के लिये स्वाध्याय के काल को ही घट अर्थात् सामायिक और प्रतिक्रमण के काल तो कम किये नही जा सकते नैमित्तिक क्रिया हेतु साधुओ की वैयावृत्ति आदि हेतु अथवा विहार प्रभावना आदि कार्यो के प्रसग मे उपर्युक्त कथित स्वाध्याय के काल समय कम करना होता है। यहा तक नित्य क्रियाओ का वणन हुआ।

आलोचना करनी चाहिये। अर्थात् "इच्छामि भंते ! अट्ठमियम्हि प... विद्धो आयारो" इत्यादि पाठ पाक्षिक प्रतिक्रमण के अंतर्गत मुद्रित है वह आलोचना पढ़ी जाती है।

सिद्धश्रुत सुचारित्रचैत्य पचगुरुस्तुतिः ।
शांतिभक्तिश्च वाष्टम्या, त्रिवंदनेऽपि मन्यते ॥२६४॥

अर्थ—अथवा अष्टमी क्रिया में त्रिकाल वंदना में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, चैत्य, पंचगुरु और शांति ये छह भक्तियां भी मानी गई हैं।

सिद्ध प्रतिमा और जिन प्रतिमा दर्शन की क्रिया—

सिद्धभक्त्या क्रिया कार्या, सिद्धबिम्बस्य वंदने ।
सिद्धचारित्रशान्त्या च, भक्त्या जिनबिम्बदर्शनम् ॥२६५॥

अर्थ—सिद्ध प्रतिमा के दर्शन में सिद्ध भक्ति द्वारा क्रिया करनी चाहिये और जिन प्रतिमा के दर्शन करने में सिद्ध, चारित्र और शांति भक्ति द्वारा क्रिया की जाती है।

सामायिक, अष्टमी क्रिया और प्रतिमा दर्शन के युगपत् प्रसंग में करने योग्य क्रिया

आर्या—दर्शनपूजात्रिसमयवंदनयोगोष्टमी क्रियादिषु चेत् ।
प्राक्तर्हि शांतिभक्ते, प्रयोजयेच्चैत्यपञ्चगुरुभक्ती ॥२६६॥

अर्थ—यदि एक साथ अपूर्व जिनप्रतिमा का दर्शन, त्रिकाल वंदना और अष्टमी क्रिया आदि का योग आ जावे तो शांति भक्ति के पहले चैत्य भक्ति और पंचगुरु भक्ति का प्रयोग करें।

चैत्यापूर्वाणि सर्वाणि, दृष्ट्वा चैकत्र कल्पयेत् ।
क्रियां तेषां तु षष्ठेऽनु-श्रूयते मास्यपूर्वता ॥२६७॥

अर्थ - यदि अनेक अपूर्व जिन प्रतिमा एक ही स्थान पर हों तो उनका दर्शन कर किसी एक प्रतिमा के निकट पूर्वोक्त क्रिया करनी चाहिये।

तथा उन प्रतिमाओं की अपूर्वता परंपरा से छठे महीने से समझनी चाहिये। अर्थात् छह महीने के अनंतर पुनः जिन प्रतिमाओं का दर्शन होता है उन प्रतिमाओं को यहां 'अपूर्व' संज्ञा दी है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रिया—

चतुर्दश्यां क्रियात्साधुर्यत्नाद्बृहत्प्रतिक्रमम् ।
कर्तुं मर्हत्यमावस्यापूर्णिमायामथापि वा ॥२६८॥

अर्थ—साधु चतुर्दशी के दिन यत्नपूर्वक बृहत् प्रतिक्रमण करते हैं अथवा अमावस्या या पूर्णिमा को भी कर सकते हैं।

श्रुतपंचमी क्रिया—

पठित्वा श्रुतपंचम्यां, बृहत्सिद्धश्रुतस्तुती ।
श्रुतस्कंधं प्रतिष्ठाप्य, गृहीत्वा वाचनां मुनिः ॥२६९॥

बृहच्छ्रुतगणिस्तुत्या, स्वाध्यायं स्तोऽग्रिमात्ततः ।
निष्ठाप्य श्रुतभक्त्या तु, शांतिभक्त्या विसर्जयेत् ॥२७०॥

कुर्युश्च श्रावकाः सिद्धश्रुतशांतिनुतीस्तथा ।
साधोः सन्यासकालेऽपि, गृहिणां च विधिस्त्वयम् ॥२७१॥

[त्रिभिः कुलकम्]

अर्थ [illegible]

सिद्धान्त वाचना आदि की क्रिया—

अयंविधिश्च सिद्धांताचारवाचनयोरपि।
ह्यार्षाद्विशेषतोज्ञेया, सिद्धांतस्यातिभक्तये ॥२७२॥

अर्थ सिद्धात वाचना और आचार वाचना के समय भी यही उपर्युक्त भी अर्थात् श्रुतपचमीक्रिया के समान क्रियायें करनी होती हैं। तथा सिद्धात ग्रन्थो के स्वाध्याय की विशप भक्ति हेतु और विशेष विधि आर्षग्रन्थो से जान लेना चाहिये।

सन्यास ग्रहण के समय की क्रिया—

मुनेः संन्यासकालेऽपि एष एव च साधुभिः।
स्वाध्यायार्थं क्रियाकार्या, शांतिभक्त्या विना तथा ॥२७३॥

अर्थ- साधुओ को मुनि के सन्यास ग्रहण के समय भी स्वाध्याय हेतु उपर्युक्त क्रिया ही करना चाहिये। मात्र उसमे शाति भक्ति का पाठ नही रहता है।

नन्दीश्वर क्रिया—

आर्या—नंदीश्वरवरपर्वणि, प्राण्हस्वाध्यायं विसृत्य सर्वे मुनयः।
सिद्धनंदीश्वरपञ्च-गुरुशांतिस्तुत्या क्रियां कुर्युः ॥२७४॥

अर्थ—नदीश्वर पर्व मे आठ दिन तक पूर्वाण्ह स्वाध्याय के अनतर सभी साधु मिलकर सिद्ध भक्ति, नदीश्वर भक्ति पचगुरु भक्ति और शांति भक्ति पढकर क्रिया करते है।

अभिषेक वदना और स्थिर तथा चल प्रतिमा की प्रतिष्ठादि मे करने योग्य क्रिया—

सिद्धचैत्य गुरुशान्त्या, स्यादभिषेकवंदना।
स्थिरबिम्बप्रतिष्ठाया, सिद्धशांत्या चलस्य च ॥२७५॥
चलतुर्येऽभिषेके स्यात्, पूर्वोक्तस्नपन क्रिया।
स्थिरतुर्येऽभिषेकस्य, वंदने पाक्षिकी क्रिया ॥२७६॥

प्रत्याख्यानं बृहत्सिद्धयोगभक्त्या च गृह्यते।
बृहत्सूरिशांतिभक्ती, कृत्वा क्रिया समाप्यते ॥२८०॥ [युग्म]

अर्थ—उस समय गोचरी के अनन्तर उस दिन आहार सभी आचार्य के पास सभी साधु मिलकर प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं। बृहत्सिद्ध और बृहद् योग भक्ति के द्वारा प्रत्याख्यान ग्रहण किया है। अनन्तर सभी साधु आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वंदना शांति भक्ति पूर्वक क्रिया समाप्त करते हैं।

वर्षायोग ग्रहण और विसर्जन विधि—

शुचिशुक्लाचतुर्दश्यां, पूर्वरात्रे विधिस्त्वयम्।
सिद्धयोगनुती कृत्वा, चतुर्दिक्षु पृथक्-पृथक् ॥२८१॥
स र्धं द्विद्विजिनस्तुत्या, लघुचैत्यनुती पठेत्।
ततो गुरुशांतिभक्त्या, वर्षायोगस्तु गृह्यते ॥२८२॥
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां, पश्चाद् रात्रौ ह्यमुं विधिम्।
विधाय साधभिश्चेति वर्षायोगस्तु मुच्यते [त्रिभि. कुलक] ।२८

अर्थ—आषाढ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्व रात्रि में यह विधि होती है सभी साधु आचार्य के साथ मिलकर सिद्ध भक्ति और योग भक्ति कर चारों दिशाओं में पृथक् पृथक् प्रदक्षिणा के क्रम से दो-दो तीर्थंकरों की स्तुति साथ-साथ लघु चैत्य भक्ति पढ़ते हैं। पुन पंचगुरु भक्ति और शांति भक्ति पढ़कर वर्षा योग ग्रहण कर लेते हैं। अनन्तर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में इसी ही विधि को करके वर्षा योग समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—साधु उस चतुर्दशी की पहली रात्रि में सिद्ध, योग भक्ति पुन पूर्व दिशा में स्वयंभूस्तोत्र के वृषभजिन और अजितजिन स्तोत्र के लघु चैत्य भक्ति पढ़ते हैं। ऐसे ही दक्षिण दिशा में संभव, अभिनंदन की स्तुति ... लघु चैत्य भक्ति, पश्चिम में सुमति, पद्मप्रभ की ... भक्ति, ... उत्तर में सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ स्तुति

अर्थ—केशलोच के प्रारंभ में सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़ी जाती है। पुनः केशलोच पूर्ण हो जाने पर सिद्ध भक्ति से ही क्रिया होती है।

प्रतिमायोगधारी योगी की वंदना क्रिया—

लघीयसोऽपि साधोश्चेत्प्रतिमायोगधारिणः ।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षि शांतिभक्त्यास्य वंदना ॥२८८॥

अर्थ—यदि दीक्षा में लघु भी साधु प्रतिमायोग को धारण करने वाले है तो सभी साधु सिद्ध, योग और शांति भक्ति द्वारा इनकी वंदना करते है।

मुनियों के सल्लेखना के बाद उनके शरीरादि की क्रिया —

काये निषेधिकायां च, मुनेः सिद्धर्षिशांतिभिः ।
उत्तरव्रतिनः सिद्धात्परं वृत्तनुतिं तत ॥२८९॥

सैद्धांतस्य श्रुतं सिद्धात्परं वृतस्तुतिं विना ।
उत्तरगुणिन सिद्धश्रुतावृत्तर्षि शांतिभिः ॥२९०॥

इत्थ चतुर्विध सूरेः एवमेवविधिस्त्वयम् ।
केवलं शांतिभक्तेः प्राक्, सूरिभक्तिः प्रयुज्यताम् ॥२९१॥

[त्रिभि. कुलकं]

अर्थ— मुनि की सल्लेखना के बाद उनके शरीर की वंदना में और उनकी निषीधिका की वंदना में जो भक्तियां की जाती है उनका सविस्तर वर्णन करते हैं सामान्य मुनि के शरीर की वंदना में सिद्ध, योग और शांति भक्ति की जाती है। यदि उत्तर गुण सहित मुनि हैं तो सिद्ध, चारित्र, योग और शांति भक्तियां की जाती है। यदि मुनि सिद्धांतविद् है तो सिद्ध, श्रुत, योग और शांति करनी चाहिए। और यदि वे ही मुनि उत्तरगुणधारी है तो सिद्ध श्रुत, चारित्र, योग और शांति भक्ति द्वारा उनके शरीर और निषद्या की वंदना की जाती है। इसी तरह यदि ये चार प्रकार के मुनि आचार्य

क्रियाओं का उपसंहार और अन्य कर्तव्यों का निरूपण—

नित्यानैमित्तिका सर्वैः क्रिया प्रोक्ता मयाधुना ।
साधुभिर्यच्च कर्तव्यं तदन्यदपि कथ्यते ॥२९४॥

अर्थ—मैंने यहां तक नित्य और नैमित्तिक सभी क्रियाओं का व किया है। अब अन्य भी जो कर्तव्य साधुओं के लिये करने योग्य हैं उन को भी कहता हूं।

तेरह क्रियाओं का वर्णन—

आवश्यकादि षट् पञ्चपरमेष्ठिनमस्क्रिया ।
निसही चासही साधो, क्रिया कार्यास्त्रयोदश ॥२९५॥

अर्थ—छह आवश्यक क्रिया, पांच परमेष्ठी को नमस्कार निसही और असही साधु के लिये ये तेरह क्रियायें सतत करने योग्य हैं। आवश्य क्रियायें और पांच परमेष्ठी नमस्कार का लक्षण मालूम ही है। आगे दो र लक्षण कहते हैं।

निसही और असही का लक्षण—

वसत्यादौ विशेत् तत्स्थं, भूतादिं निसहीगिरा ।
तस्मादापृच्छ्य निर्गच्छेत्तं पृष्ट्वा चासही गिरा ॥२९६॥

अर्थ—वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहां पर स्थित भूत आदि व्यंतर देवों को 'निसही' शब्द के द्वारा पूछकर वहां प्रवेश करे और वहां से निकलते समय उनको 'असही' शब्द से पूछकर निकले।

विधिवत् गुरु वन्दना का काल—

द्वये सामायिके साधु, प्रतिक्रान्तौ च साधवः ।
त्रिकाले वंदितुं सूरिं कृतिकर्मविधिं भजेत् ॥२९७॥

अर्थ—प्रातः और मध्याह्न सामायिक के बाद तथा सायंकाल के प्रतिक्रमण के अनन्तर इन तीन काल में साधुगण कृतिकर्मविधिपूर्वक आचार्य [illegible] करें।

अर्थ— जल[1] में प्रवेश करते समय अपने पैर की धूलि को पिच्छी से प्रमार्जित करके उतने काल पर्यंत के लिये चतुराहार त्याग रूप प्रत्याख्यान ग्रहण करके और कायोत्सर्ग करके जल में प्रवेश करे। अर्थात् जब तक इस तरफ से उस तरफ जल में से पहुंचूंगा तब तक के लिये मेरे चतुराहार का त्याग है। ऐसा नियम लेकर जल में प्रवेश करे।

पश्चान्नीराद् विनिर्गत्य, कायोत्सर्गेण शुद्ध्यति।

जानुदघ्ने जले ह्यतदप्यधिके जले तत ॥३१८॥

अध्यधिकं गुरोः पार्श्वे प्रायश्चित्तं भवेत्तदा।

द्रोण्यादिनापि चेद् गच्छेत् गृह्णात् शुद्धिं गुरोस्ततः ॥३१९॥

अर्थ—पश्चात् जल से निकल करके साधु एक कायोत्सर्ग से शुद्ध हो जाता है। यह घुटने प्रमाण जल में होकर निकलने का विधान है। घुटने से ऊपर जल है और साधु उसमें से निकलते हैं तो अंगुलों की जितना-जितना अधिक जल है उतना-उतना ही अधिक प्रायश्चित्त गुरु के पास लिया जाता है। यदि कदाचित् द्रोणी—नाव आदि से नदी पार करते हैं तो उसका प्रायश्चित्त भी गुरुमुख से ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ— शास्त्रों में नाव से नदी पार करने का विधान है। "महतीनां नदीनामुत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवंदनः यावत्परकूलं... स्तावन्मया सर्वं शरीरं भोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत् परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत्।"

कदाचित् बड़ी नदियों को पार करने से पहले नदी के इस तट पर सिद्धवंदना करके "जब तक मैं उस पार न पहुंच जाऊं तब तक मुझे शरीर, आहार, और उपकरण का त्याग है" ऐसा प्रत्याख्यान ग्रहण कर समाहित एकाग्रचित्त होते हुये साधु द्रोणी-नौका आदि पर चढ़े, और उस तट पर पहुंच कर उसकी शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करते हैं।

---

१ 'जल प्रविशता ... पदाभ्यां ... निराम। ... एव तिष्ठेत्।'

(मूलाराधना पृ०

२ मूलाराधना पृ० ३५६।

रात्रि मे मुनि गन मूत्रादि विसर्जन कहा करते है—

वीक्ष्यान्हि प्रासुकस्थानं, रात्रौ तत्र मलादिकम् ।
उत्सृजेत् सूरिणाज्ञप्त, स्वैरवृत्ति न चाचरेत् ॥३२२॥

अर्थ—दिन मे देखे गये और आचार्य द्वारा बताये गये ऐसे स्थान मे रात्रि मे साधु वहा पर मल, मूत्रादि का विसर्जन करें स्वच्छद प्रवृत्ति नही करे। अर्थात् आचार्य स्वय रात्रि के लिये विसर्जन योग्य ऐसे स्थान को देख कर निर्णय दे देते है पुन रात्रि मे वही पर जाते है रात्रि मे स्वच्छद प्रवृत्ति से कही गमन नही करते है।

साधु कितने प्रसगो पर मौन रखे ?

आहारार्थं निर्गमने, मलमूत्रादिक्षेपणे ।
लोचे मौनं चरेत्साधुश्चावश्यकक्रियास्वपि ॥३२३॥

अर्थात्—आहार के लिये निकलने पर, मल मूत्रादि के विसर्जन करते समय, केशलोच मे और आवश्यक क्रियाओ मे साधु मौन को धारण करे।

पिच्छिका कैसी हो ?

स्वयंपतितपिच्छानां शिखिनो मासि कार्तिके ।
पिच्छिका प्राणिरक्षार्थं, संयमस्योपधिस्त्वयम् ॥३२४॥

अर्थ—मयूर कार्तिक मास मे स्वय अपने पखो को छोड देते है ... पतित मयूर पखो की पिच्छिका होती है यह प्राणियो के रक्षा ... है। इसलिये यह सयम का उपकरण कहलाती है।

... के पाच गुण—

...स्वेदरजोरग्रहण, मार्दव सुकुमारता ।
... चेति पञ्चैते, पिच्छिकाया गुणा मताः ॥३२५॥

...—पसीना और धूलि को ग्रहण न करना, मृदुता, सुकुमारता ... ये पाच गुण पिच्छिका के माने गये है। ...

पार्श्वस्थादिमुनीना तु, सगति वदनादिकम् ।
न कुर्यात् व्रते हानि स्यात् ते च शिथिलाचारिण ॥३

अर्थ—साधु पार्श्वस्थ आदि मुनियो की सगति और उनको व
नही करे क्योकि ये शिथिलाचारी है । इनकी सगति आदि से अपन
की हानि होती है ।

पार्श्वस्थादि के भेद और लक्षण—

आर्या—वृत्तऽलसोवसन्न:, पार्श्वस्थो मलिनो परदृशेष्टेनिष्टे ।
संसक्तो मृगचरित , स्वकल्पिते प्रकटचरितस्तु कुशील. ॥३

अर्थ—जो चारित्र मे आलसी है वह अवसन्न है । मलिन चा
वाला पार्श्वस्थ है, अन्य सप्रदायी जनो को इष्ट ऐसे अनिष्ट मे आसक्त
हुआ ससक्त कहलाता है, स्वकल्पित आचरण करने वाला मृगचरित है औ
मूलोत्तर गुणो मे दोषो लगाने वाला कषायो से कलुषित हृदय वाल
कुशील है ।

विशेषार्थ जो जिन वचनो से अनभिज्ञ है जिसने चारित्र का भार
उतार दिया है तथा ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट होकर जो इन्द्रियो के
विषयो मे अलग बना रहता है उसको अवसन्न कहते है । जो श्रमणो के
पास मे वसतिका बनाकर अथवा मठ बनाकर रहता है, अथवा उपकरणो
से अपनी आजीविका करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं । जो वैद्यक मत्र
अथवा ज्योतिष के द्वारा आजीविका करने वाले है और राजा आदिको
की सेवा किया करते है उनको ससक्त कहते है । जिसने स्वेच्छाचारी हो-
कर गुरुकुल का त्याग कर दिया है जो एकाकी ही उच्छृखल विहार करता
हुआ जिन वचनो की निंदा करता फिरता है उसको स्वच्छद अथवा मृग-
चारी कहते है । जिसकी आत्मा क्रोधादि कषायो से कलुषित रहती है और
जो व्रत महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शील के उत्तर भेदो से भी रहित
है [illegible] [illegible] अनुराग नही करता उसे कुशील कहते है ।

अर्थ—वर्षाऋतु मे देव और आगंगत्रधि कोई बड़ा कार्य शीत काल और ग्रीष्म काल मे छोटा कार्य आ उपस्थित हुआ हो तो कार्य के निमित्त बारह योजन तक कोई साधु गमन करे तो वह नही है, बारह योजन से ऊपर गमन करने वाला प्रायश्चित्त का होता है।

साधु अस्पृश्य के स्पर्श हो जाने पर क्या करें—

स्पृष्टे कपालचाण्डालामेध्यचर्मादिके सति।
स्नात्वा दण्डवदाशु प्राक्, जपेन्मंत्रमुपोष्य च ॥३३३॥

अर्थ—साधु को यदि कपाल, चांडाल या विष्ठा, चर्म आदि किसी अशुद्ध पदार्थ का स्पर्श हो जावे तो शीघ्र ही पहले दंड स्नान करके मंत्र का जप करे और उपवास करे।

साधु गुरुओं के साथ कैसे रहें—

गुर्वादेरनुकूलत्वं, वैयावृत्यादिकं तथा।
आसनोपधिदानं च संस्तरादिविशोधनम् ॥३३४॥
काले कालेऽप्रमत्तेन, कर्त्तव्यं भक्तितस्तराम्।
आवश्यकक्रियादींश्च, कुर्याद् हि गुरुसन्निधौ ॥३३५॥

अर्थ—हमेशा साधु गुरु आदि अनुकूलता रखें तथा उनकी वैयावृत्ति आदि भी करें, उन्हे आसन, शास्त्र, पटादि उपकरण देवें और उनके संस्तर आदि का भी शोधन करें। प्रमाद छोड़कर समय-समय पर अतिशय रूप भक्ति से गुरुओं की सेवा आदि करें तथा छह आवश्यक क्रियाएं भी गुरु के सानिध्य मे ही करें।

हस्तद्वयेन दातव्यं ज्येष्ठेभ्यः पुस्तकादिकम्।
न तत् देयं करद्वंद्वेनादेयं विनयान्वितैः ॥३३६॥

अर्थ—दूसरों को या अपने से बड़े साधुओं को पुस्तक आ

अर्थ—वर्षाऋतु मे देव और आर्षसंबंधि कोई बड़ा कार्य त शीत काल और ग्रीष्म काल मे छोटा काय आ उपस्थित हुआ हो तो कार्य के निमित्त बारह योजन तक कोई साधु गमन करे तो वह नही है, बारह योजन से ऊपर गमन करने वाला प्रायश्चित्त का होता है।

साधु अस्पृश्य के स्पर्श हो जाने पर क्या करें—

स्पृष्टे कपालचाण्डालामेध्यचर्मादिके सति।
स्नात्वा दण्डवदाशु प्राक्, जपेन्मंत्रमुपोष्य च ॥२३३॥

अर्थ—साधु को यदि कपाल, चाडाल या विष्ठा, चर्म आदि कि अशुद्ध पदार्थ का स्पर्श हो जावे तो शीघ्र ही पहले दंड स्नान करके का जप करें और उपवास करें।

साधु गुरुओं के साथ कैसे रहें—

गुर्वादिरनुकूलत्वं, वैयावृत्यादिकं तथा।
आसनोपधिदानं च संस्तरादिविशोधनम् ॥२३४॥
काले कालेऽप्रमत्तेन, कर्त्तव्यं भक्तितस्तराम्।
आवश्यकक्रियादींश्च, कुर्याद् हि गुरुसन्निधौ ॥२३५॥

अर्थ—हमेशा साधु गुरु आदि अनुकूलता रखे तथा वैयावृत्ति आदि भी करें, उन्हे आसन, शास्त्र, पटादि उपकरण और उनके संस्तर आदि का भी शोधन करें। प्रमाद छोड़कर सा पर अतिशय रूप भक्ति से गुरुओ की सेवा आदि करे तथा छह क्रियायें भी गुरु के सानिध्य मे ही करे।

हस्तद्वयेन दातव्यं ज्येष्ठेभ्यः पुस्तकादिकम्।
तत्तत् देयं करद्वयेनादेयं विनयान्वितै ॥२३६॥

अर्थ—गुरुओं को या अपने से बड़े साधुओं को पुस्त

अर्थ—मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका ये सभी विद्यमान हैं। इस प्रकार धर्मतीर्थ को चलाने वाला यह चतुर्विधसंघ आज भारत मे मौजद है। पचम् काल के अतपर्यंत यह चतुर्विध सघ तथा राजा और धर्म इनका इस क्षेत्र मे अस्तित्व रहेगा ही। तथा इनका विनाश भी साथ ही होगा। अर्थात् जब पचम काल के अन्त मे कुछ ही काल शेष रहेगा तब अतिम कल्की द्वारा मुनि के हाथ से कर–टैक्स रूप ग्रास मागा जाने पर मुनि उपवास करके आकर चतुर्विध संघ सहित सल्लेखना ग्रहण कर लेगे। उनमे स्वर्गस्थ हो जाने के बाद प्रात काल धर्म समाप्त हो जायेगा पुन· धरणेंद्र के द्वारा कल्की के मार दिये जाने पर मध्यान्ह मे राजा का अस्तित्व खतम हो जायेगा। इस प्रकार इस क्षेत्र मे तब चतुर्विध सघ, और राजा का अस्तित्व रहेगा। अत. आज मुनियो के अस्तित्व का विरोध नही किया जा सकता है।

चारित्र के अन्तर्गत तीन गुप्तियो को कहा जाता है—

एवं गुणर्यु ताये ते, भजन्त्याराधनामिमाम्।
व्रतादेर्लक्षणं प्रोक्त, गुप्तीनां चाधुना ब्रुवे ।।३४२।।

अर्थ- इन उपर्युक्त गुणो से विशिष्ट जो साधु है वे इस चारित्राराधना का सेवन करते है। व्रत और समितियो का लक्षण तो कह दिया है अब गुप्तियो का वर्णन करते है।

मनोगुप्ति का लक्षण—

नानाविकल्पजालाद् या, मनोवृत्तिनिरुध्यते।
रागादिभ्यो निवृत्तिर्वा, मनोगुप्तिस्तु चेतसः ।।३४३।।

अर्थ- नाना प्रकार के विकल्प समूहो मे जो मन का व्यापार रोका जाता है अथवा रागादि परिणामो मे चित्त का हटना यह मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति का लक्षण—

वचोगुप्तिरलीकाद्यै र्वचनैर्या निवृत्यते।
तावद्धर्म्यन्यवचसापि मुनेर्वाचंयमोऽथवा ।।३४४।।

अर्थ—एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनो गुप्ति और आलोकितपान भोजन ये अहिंसाव्रत की पांच भावनायें हैं।

सत्यव्रत की भावनायें—

क्रोधभयलोभहास्य त्यागा अनुवीचिभाषणं चैव ।

पञ्चैताः सत्यस्य व्रतस्य भावनास्तमवंति ॥३४६॥

अर्थ—क्रोध, भय, लोभ और हास्य इनका त्याग करना तथा अनु- वीचिभाषण—आगम के अनुकूल वचन बोलना सत्यव्रत की ये पांच भाव- नाये उस व्रत की रक्षा करती है।

अचौर्य व्रत की भावनायें—

याञ्चासमनुज्ञापनानन्यभावोऽपि त्यक्तप्रतिसेवी ।

सधर्मोपध्यनुवीचि सेवनं चाचौर्यव्रते पञ्च ॥३५०॥

अर्थ—जिनकी पुस्तक आदि है उनसे याचना करके ग्रहण करना याचना भावना है। जिनके परोक्ष में पुस्तकें आदि ली हों उन्हें कह देना समनुज्ञापना है। दूसरों की दुई पुस्तकों में ममत्व भाव नहीं रखना, अनन्य भावना है। जो वस्तु मुनि को ही ग्रहण करने योग्य है अथवा जिनकी अन्य मुनियों को आवश्यकता नहीं है ऐसी वस्तु त्यक्त है उस वस्तु का प्रति सेवन करना। अथवा आचार्य को त्यक्त कहते हैं उनकी सेवा करना, आज्ञा पालन करना व्यक्तप्रतिसेवना भावना है। तथा सधर्मी साधुओं के उप- करण आदि को आगम के अनुसार सेवन करना—ग्रहण करना यह सधर्मोप- करणानुवीचि—सेवन भावना है। ऐसी ये पांच भावनायें अचौर्य व्रत की मानी गई है।

ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें—

विकथास्त्र्यवलोकनसंसक्तवसति पूर्वरतस्मृतिनः ।

प्रणीतरसेन्यश्चापि, विरतिः ब्रह्मणि भावनाः पञ्च ॥३५१॥

अर्थ—विकथा, स्त्रीरूप अवलोकन, उनसे सहित वसति में निवास,

अर्थ—एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनो गुप्ति और आलोकितपान भोजन ये अहिंसाव्रत की पाच भावनाये है।

सत्यव्रत की भावनाये—

क्रोधभयलोभहास्य त्यागा अनुवीचिभाषणं चैव।
पञ्चैताः सत्यस्य व्रतस्य भावनास्तमवंति ॥३४९॥

अर्थ—क्रोध, भय, लोभ और हास्य इनका त्याग करना तथा अनुवीचिभाषण—आगम के अनुकूल वचन बोलना सत्यव्रत की ये पाच भावनाये उस व्रत की रक्षा करती है।

अचौर्य व्रत की भावनाये—

याञ्चासमनुज्ञापनानन्यभावोऽपि त्यक्तप्रतिसेवी।
सधर्मोपध्यनुवीचि सेवनं चाचौर्यव्रते पञ्च ॥३५०॥

अर्थ—जिनकी पुस्तक आदि है उनसे याचना करके ग्रहण करना, याचना भावना है। जिनके परोक्ष मे पुस्तकें आदि ली हो उन्हे कह देना समनुज्ञापना है। दूसरो की हुई पुस्तको मे ममत्व भाव नही रखना, अनन्य भावना है। जो वस्तु मुनि को ही ग्रहण करने योग्य है अथवा जिनकी अन्य मुनियो को आवश्यकता नही है ऐसी वस्तु त्यक्त है उस वस्तु का प्रति सेवन करना। अथवा आचार्य को त्यक्त कहते हैं उनकी सेवा करना, आज्ञा पालन करना व्यक्तप्रतिसेवना भावना है। तथा सधर्मी साधुओ के उपकरण आदि को आगम के अनुसार सेवन करना—ग्रहण करना यह सधर्मोपकरणानुवीचि—सेवन भावना है। ऐसी ये पाच भावनायें अचौर्य व्रत की मानी गई हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें—

विकथास्त्र्यवलोकनसंसक्तवसति पूर्वरतस्मृतिनः।
प्रणीतरसेन्यरचापि, विरतिः ब्रह्मणि भावना. पञ्च ॥३५१॥

अर्थ—विकथा, स्त्रीरूप अवलोकन, उनसे संसक्त वसति मे निवास,

पूर्व मे भोगे भोगो का स्मरण और प्रणीत रस सेवन इनसे विरक्त होना ही ब्रह्मचर्यव्रत की पाच भावनाये है।

अपरिग्रह व्रत की भावनायें—

अपरिग्रहस्य साधोः, रूपरसगंधशब्दस्पर्शेषु ।
रागद्वेषादीनां, परिहारो भावनाः पञ्च ॥३५२॥

अर्थ—परिग्रह रहित साधु के स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन पाच प्रकार के विषयो मे जो राग और द्वेष आदि त्याग होता है वेही पाचवें व्रत की पाच भावनाय हैं।

व्रतो के रक्षक कौन-कौन हैं—

पञ्चव्रतानां रक्षार्थं रात्रिभुक्तिनिवर्तनम् ।
प्रवचनमातरोऽष्टौ, पञ्चविंशतिभावना ॥३५३॥

अर्थ—रात्रि भोजन त्याग रूप व्रत, आठ प्रवचन मातायें और ये पच्चीस भावनायें ये सभी पाँच महाव्रतो की रक्षा के लिये होते हैं।

भावार्थ—रात्रि भोजन त्याग नामका व्रत साधुओ के लिये छठा अणुव्रत माना गया है। मूलाचार और प्रतिक्रमण मे सर्वत्र इसे छठा अणुव्रत ही कहा है क्योकि रात्रि मे ही मात्र भोजन का त्याग होने से तथा दिन मे एक बार ग्रहण करने मे इसे महाव्रत नही कह सकते हैं अतएव इसको अणुव्रत संज्ञा है। यथा प्रतिक्रमण मे—"छट्ठं अणुव्वदं राइभोयणादो वेरमणं" इत्यादि।

इस चारित्राधना मे मूलगुणो का वर्णन क्यो किया—

अस्या मूलगुणस्यापि, समासात् वर्णनं कृतम् ।
विना मूलगुणान्न स्यात् चारित्राराधना क्वचित् ॥३५४॥

सर्वान् मूलगुणान्न यत्नाद्, धारयन्नप्रमत्तक. ।
त्रयोदशविधां सम्यक् चारित्राराधनां भजेत् ॥३५५॥

अर्थ—इस आराधना मे सक्षेप से मूलगुणो को वर्णन किया है, क्योंकि मूलगुणो के विना चारित्राराधना कभी नही हो सकती है। सभी अट्ठाईस मूलगुणो को प्रयत्नपूर्वक धारण करता हुआ अप्रमादी साधु तेरह प्रकार की सम्यक् चारित्राराधना को प्राप्त कर लेता है।

चारित्राधना का फल—

वसंततिलका छंद.—इत्थं त्र्योदशविधं चरणं चरन्ति।
आर्षानुसारि सकलं नियम धरंति ॥
आपूर्णजीवनिवहे भुवने वसन्तः।
प्राक् प्राप्नुवन्त्यपि रमा परमां ध्रुवं ते ॥३५६॥

अर्थ—जो इस प्रकार तेरह विधि चारित्र का आचरण करते है और आर्ष के अनुरूप सपूर्ण नियम को धारण करते हैं। वे जीवो के समूह मे परिपूर्ण व्याप्त इस लोक मे रहते हुये भी शीघ्र ही परम—सर्वोत्तम ऐसी मुक्ति रमा को निश्चित ही प्राप्त कर लेते है।

इस प्रकार आराधना नाम के ग्रन्थ मे चारित्राराधना नाम का यह तृ

तप आराधना

द्विविधस्तप आचारो, वाह्याभ्यन्तर भेदतः ।

एकैकोपि च षोढास्यात् प्ररूपयामितं क्रमात् ॥३५७॥

अर्थ—वाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप आचार दो प्रकार का हैं। उसमे भी प्रत्येक छह-छह भेद होने से यह वारह प्रकार का हो जाता है। उस तप आचार का मैं क्रम से प्ररूपण करूगा।

वाह्यं तप. परं घोरं, वाह्यजंते प्रसिद्धकं ।

अभ्यंतरजनैर्ज्ञातं, चाभ्यंतरतपो मत ॥३५८॥

अर्थ—वाह्य तप अतीव घोर-कठोर है यह वाह्य जनो मे प्रसिद्ध है अतः इसका सार्थक है और अभ्यन्तर जनो से ज्ञात—सम्यग्दृष्टियो मे प्रसिद्ध यह अभ्यन्तर तप है यह भी सार्थक नाम वाला है।

वाह्य तप के छह भेद—

आर्या—अनशनमवमौदर्यं रसपरित्यागश्चवृत्तपरिसंख्या ।

तनुक्लेशोस्तयो वाह्यतपः विविक्तशयनासन षट् च ॥३५९॥

अर्थ—अनशन अवमौदर्य रसपरित्याग वृत्त परिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशयनासन ये छह वाह्य तप हैं।

अनशन का लक्षण—

अनुष्टुप—चतुराहारपरित्याग उपवासो द्वि भेदतः ।

साकाङ्क्षश्च निराकाङ्क्षो, द्विधापि स्यादनेकधा ॥३६०॥

अर्थ—चारो प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। उसके साकाक्ष और निराकाक्ष ऐसे दो भेद हैं पुन ये दो भेद भी अनेको भेद वाले है।

प्रायश्चित्त के दश भेदों के नाम—

आर्या—आलोचनाप्रतिक्रमे, उभयविवेकौ तथैव व्युत्सर्गः ।
तपश्छेदो मूलं, परिहारश्चैव श्रद्धानम् ॥३६८॥

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित्त तप के दश भेद हैं।

विशेषार्थ—आचार्य अथवा भगवान के पास जाकर चरित्राचार पूर्वक नम्र होते हुये अपने दोषो को कहना आलोचना है, रात्रि भोजन त्याग सहित पाच महाव्रतो का उनकी भावना के उच्चारण करना या दैवसिक अथवा पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो ही करना तदुभय प्रायश्चित्त है, गण विवेक और स्थान विवेक ऐसे विवेक के दो भेद है, कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है, अनशन आदि करना तप है, पक्ष, मास, वर्ष इत्यादि काल के प्रमाण से दीक्षा कम करना छेद है, फिर प्रारम्भ से दीक्षा देना मूल है, सघ से पृथक् करना परिहार प्रायश्चित्त है और तत्त्व मे रुचि करना अथवा क्रोधादिको का परित्याग करना श्रद्धान प्रायश्चित्त है। आचार्य शिष्य के दोषो के अनुसार इनमे से यथायोग्य प्रायश्चित्त उन्हे देते हैं

विनय के पाच भेद—

अनुष्टुप्—सद्दृष्टिज्ञानचारित्र तपोभिश्चोपचारतः ।
पञ्चधा विनयोज्ञेयः, पञ्चमीगतिदायकः ॥३६९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार इन पाच प्रकार का विनय तप माना गया है जो कि पचमी गतिमोक्ष गति को देने वाला है।

वैयावृत्त्य तप—

बालवृद्धाकुले संघे, ह्याचार्यादिषु पञ्चसु ।
सर्वशक्त्या विधातव्यं, वैयावृत्यं तथापदि ॥३७०॥

अर्थ—बाल, वृद्ध, आदि व्याप्त संघ मे तथा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर प्रवंतक और गणधर इन पाचो की आपत्ति आदि प्रसग मे सर्व-शक्ति लगाकर वैयावृत्ति करनी चाहिये।

स्वाध्याय के पाच भेद—

वाचना पृच्छना ज्ञेयानुप्रेक्षा परिवर्तनम्।
धर्मकथास्तवाद्यश्च, स्वाऽध्यायः पञ्चधा मत· ॥३७१॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन-आम्नाय और धर्म कथा स्तुति आदि ये पाच प्रकार का स्वाध्याय माना गया है।

ध्यान के चार भेद—

आर्तरौद्रे धर्म्यशुक्ले, प्रत्येकं च चतुर्विधम्।
असस्तेप्राक्च द्वे हित्वा, पश्चात्शस्तद्वयं श्रयेत् ॥३७२॥

अर्थ—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चारो ध्यान प्रत्येक भी चार-चार भेद वाले हैं। इनमे पहले के दो अप्रशस्त हैं उनको छोड़कर अंत के दोनो प्रशस्त ध्यान का आश्रय लेना चाहिये।

व्युत्सर्ग तप के दो भेद—

क्रोधाद्यभ्यतर हित्वा, बाह्य क्षेत्रादिकं तथा।
द्विविधोपधिनिर्मुक्त, सव्युत्सर्गतपो भजेत् ३७३

अर्थ—क्रोध मान आदि अभ्यन्तर परिग्रहो को और क्षेत्र वस्तु आदि बहिरंग परिग्रहो को छोड़कर जो दोनो प्रकार की उपाधि से मुक्त हो जाता है वह व्युत्सर्ग तप को आश्रय लेता है।

स्वाध्याय तप का महात्म्य—

स्वाध्यायवत्तपःकर्म, द्वादशधा तपस्वपि।
कदाचिदपि नाभूच्च, नैवास्ति न भविष्यति ॥३७४॥

अर्थ—बारह प्रकार के तपों मे भी स्वाध्याय के समान अन्य तप कभी भी न हुआ है न होता ही और न होवेगा। अर्थात् सपूर्ण तपो मे स्वाध्याय तप सबसे महान है क्योकि यही भावश्रुत-ज्ञान को प्रगट करके मोक्ष का बीज बनता है।

तप मे साध्य-साधन भाव

बाह्यैस्तपोभिरेवान्तः, शोधनं जायतेतराम् ।
बाह्यं हि साधन तस्मात्, साध्य चाभ्यंतरं तपः ॥३७५॥

अर्थ—छहो प्रकार के बाह्य तपो के द्वारा अतिशय अंतरग की शुद्धि हो जाती है। इसलिये बाह्य तप साधन है और अभयन्तर तप साध्य है। अर्थात् अतरग तप की सिद्धि के लिये बहिरग तप आवश्यक ही है इसीलिये यह साधन है और अतरग तप साध्य रूप है।

तप आराधना का महत्व—

स्वशक्तिमनिगूह्यासौ, तप आराधनां भजेत् ।
असावेव मुनिर्नाना विधोत्तरगुणान् श्रयेत् ॥३७६॥

अर्थ—जो मुनि अपनी शक्ति को नही छिपाकर उस तप आराधना का आश्रय लेता है वही मुनि नानाप्रकार के उत्तर गुणो को प्राप्त कर लेता है।

उत्तर गुण कितने और कौन-कौन है—

द्वादशधा तपांसि, द्वाविंशा परीषह जया ।
चतुस्त्रिंशद्गुणा प्रोक्ता, अप्युत्तरगुणा इमे ॥३७७॥

अर्थ—बारह प्रकार के तप और बाईस परीषह जय ये चौंतीस गुण कहे गये है। ये उत्तर गुण कहलाते है। बारह प्रकार के तपो का वर्णन हो चुका है।

बाईस परीषहो के नाम—

आर्या गीति—क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं, दंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्याः ।
शय्याक्रोश.निषद्या, वधयाञ्चालाभरोगतृणस्पर्शश्च ॥३७८॥
मलमज्ञानं प्रज्ञा, सत्कारपुरस्कारश्च तथाऽदर्शनमेव ।
परिषोढव्या एते, ह्युत्तरगुणशालिभिश्च मुनिभिर्नित्यम् ।३७९।

अर्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्मा, दशमसक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, आक्रोश, निषद्या, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, अज्ञान, प्रज्ञा, सत्कार पुरस्कार और अदर्शन ये बाईस परीषह है जो कि उत्तर गुण शाली मुनियो के द्वारा ये नित्य ही सहन करने योग्य हैं ।

विशेषार्थ—१ क्षुधा—कई दिन तक आहार न मिलने से या अतराय आदि होने से भूख की बाधा शाति से सहन करना क्षुधा परीषह जय है ।

तृषा—प्यास की बाधा सहन करना तृषा परीषह जय है ।

शीत—खुले बदन और खुले स्थान पर ठडी की महन बाधा सहन करना ।

उष्ण—भयकर लू सूर्य की तपन आदि उष्ण की बाधा सहन करना ।

दशमसक—डास, मच्छर, बिच्छू की बाधा सहन करना ।

नाग्न्य—नग्नत्व की परीषह सहन करना ।

अरति—अरुचिकर स्थानो मे अरति नही करना ।

स्त्री—स्त्रियो के द्वारा बाधा किये जाने पर भी अकप हृदय रहना ।

चर्या—चलते समय काड पत्थर आदि की बाधा सहन करना ।

शय्या—शयन मे परीषहो को सहन करना ।

आक्रोश—दूसरो के द्वारा कठोर वचन गाली आदि अपशब्द दिये जाने पर भी मन मे खिन्न नही होना ।

निषद्या - अधिक देर तक एक आसन मे बैठने की बाधा सहन करना ।

वध—दुष्टो द्वारा ताडन, मारण सहन करना।

याचना—प्राण जाने पर भी किसी से कुछ भी नही मागना।

अलाभ—आहार का लाभ न मिलने पर भी क्लेशित न होना।

रोग—नाना प्रकार से खिन्न होना।

तृणस्पर्श—चलते समय पैर के नीचे तृण कांटे वगैरह का कष्ट सहन करना।

मल—पसीने आदि के निमित्त से शरीर मे मल जम जाने पर खाज आदि की बाधा सहन करना।

अज्ञान—ज्ञान का क्षयोपशम मद होने पर अथवा दूसरो के द्वारा अज्ञान कहा जाने पर भी खिन्न नही होना।

प्रज्ञा—विद्या का अतिशय प्रभाव होने पर भी गर्व नही करना।

सत्कार-पुरस्कार—किसी ने किसी कार्य मे मुख्य नही किया आदर नही दिया तो भी क्लेश नही करना।

अदर्शन—अनेको तपश्चरण करने पर भी यदि ऋद्धि आदि चमत्कार नही दिखते है तो भी मन मे धर्म के प्रति सदेह नही करना।

दश धर्म—

आर्या—क्षमामृदुत्व मृजुत्वं, सत्यशौचसंयमास्तपस्त्यागौ।
आकिंचन्य ब्रह्माणि, चर्या च दशधोत्तमो धर्मं ॥३८०॥

अर्थ—उत्तम क्षमा—क्रोध के कारण मिलने पर भी क्रोध न करना, उत्तम मार्दव—मान न करना, उत्तम आर्जव—कपट न करना, उत्तम सत्य—सत्य बोलना, उत्तम शौच—लोभ का त्याग करना, उत्तम—इन्द्रिय-दमन और प्राणिरक्षण पालन, उत्तम तप—बारह तपों का आचरण करना, उत्तम त्याग—चार प्रकार का दान देना, उत्तम आकिंचन्य—पर से ममत्व [illegible] उत्तम ब्रह्मचर्य—स्त्री मात्र से विरक्त होना ये दश प्रकार [illegible] है।

बारह भावना—

आर्यागीति—अनित्यमशरण च भवश्चकत्वमन्यत्वमशुचै-
मास्रव भाव ।
संवरनिर्जरलोका, बोधिवृषावनवरत मनुप्रेक्ष्याः स्यु ॥३८१॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह भावनाये सतत ही अनुचिंतन करने योग्य है।

सोलह कारण भावनायें—

दृकशुद्धिविनयवृत्ती, शीलव्रतानतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानम् ।
संवेगभावना निज शक्त्या त्यागस्तपश्च साधुसमाधि ॥३८२॥
वैयावृत्यंचईद्, सूरि बहुश्रुत प्रवचनभक्तिश्च तथा ।
आवश्यकमन्यूनं, मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलतापि च ॥३८३॥
इमा भावना षोडश, तीर्थंकरप्रकृतिबंधहेतवः संति ।
व्यस्तसमस्ता वापि, दर्शनशुद्धिर्भवेत्तु मूल चासु ॥३८४॥

अर्थ—दर्शनविशुद्धि विनयसपन्नता, शीलव्रत अतिचार नही लगाना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग, सवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्य, अर्हंत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यक अपरिहाणि, मार्ग प्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये सोलह भावनायें तीर्थंकर प्रकृति बध के लिये कारण है,। इनमे कुछ कम भी हो या सपूर्ण भावनायें हो किन्तु दर्शन विशुद्धि भावना ही इनमे मूल कारण—प्रधान रूप है चूंकि इसके बिना अन्य भावनाये भी तीर्थंकर प्रकृति का बध नही करा सकती है

योगों का साधन—

अनुष्टुप्—आतापनवृक्षमूलाभ्रावकाशैस्तयेनरैः ।
सूर्याभिमुखमित्यादियोगैर्योगी भवेन्मुनि ॥३८५॥

अर्थ—आतापन, वृक्षमूल, अभ्रावकाश ये तीन प्रकार योग के हैं तथा और भी योगो के द्वारा सूर्य की तरफ मुख करके खड़े होकर सूर्याभिमुख योग इत्यादि नाना योगो को धारण करते हुये मुनि योगी कहलाते है।

सम्पूर्ण शील और व्रत किन के पूर्ण होते हैं—

चाष्ठादशसहस्राणि शीलान्यप्युत्तरगुणा ।

चतुरशीतिलक्षांश्च मुनयः पूरयत्यमी: ॥३८६॥

अर्थ—अठारह हजार शीलो को और चौरासी लाख उत्तर गुणों को भी उपर्युक्त मूल और उत्तर गुणो से विशिष्ट साधु पूर्ण कर लेते है।

तप आराधना का फल—

मालिनीछंद —बहुविधतप आराधयेप सर्वोत्तराणाम् ।

गुणमणिमयमालाभूषितस्तस्य कंठे ॥

क्षिपति हि वरमाला द्राक् समागत्य सिद्धिः ।

अर्थ-संक्षेप में ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आराधनायें क्रमशः तेरह और बारह भेद रूप है। अर्थात् दर्शनाराधना आठ प्रकार की ज्ञानाराधना के भी आठ भेद है, चारित्राराधना के तेरह भेद और तप आराधना के बारह भेद इस प्रकार इन चारों आराधनाओं के भेदों वर्णन है।

व्यवहाराराधना करने वाला मुनि ही निश्चयाराधना को प्राप्त कर सकता है—

व्यवहाराराधनामित्थं मुनिराराधयन् ततः ।
निश्चयाराधनां धत्ते, स्वभावान्निर्विकल्पिकाम् ।।३८९।।

अर्थ—इस प्रकार से व्यवहार आराधनाओं की आराधना करता हुआ मुनि इनके पश्चात् स्वभाव से निर्विकल्प रूप ऐसी निश्चयाराधना को धारण कर लेता है। अर्थात् व्यवहार आराधना के बल से ही मुनि निश्चयाराधना को प्राप्त कर लेते है।

निश्चयाराधना का स्वरूप—

स्वशुद्धात्मरुचिर्दृक् च, ज्ञानं वृत्तं तपः पुनः ।
तस्यैव ज्ञप्तिस्तत्रैवाचरणं तपनं च यत् ।।३९०।।

स्वः स्वं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात्, स्वस्मिन्नाराधयेद् यदा ।
स्वयमेव स्वयम् स्यात् स्वस्थीभूय तदा मुनिः ।।३९१।।

अर्थ—अपने शुद्ध आत्म तत्त्व का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है, उस आत्मा को जानना ही निश्चय ज्ञान है, उस आत्मा में ही आचरण करना निश्चय चारित्र है और उस आत्मा में तपन करना श्रम-करना निश्चय तप है। कोई मुनि जब स्वयं आप अपने द्वारा अपने लिये अपने से अपने में ही अपनी आराधना करता है तब वह मुनि पूर्ण स्वस्थ होकर स्वयं ही [illegible] हो जाता है।

निश्चयराधना का फल—

एकाग्रचपरिणत्यैवं, निश्चयाराधनां श्रयन् ।
आराध्यः स्वयमेव स्यात्, आराधनाफलं भजेत् ।।३६२।।

अर्थ—इस प्रकार एकाग्रपरिगति द्वारा निश्चयाराधना का आश्रय लेते हुए मुनि स्वयमेव आराध्य हो जाते है और आराधना का फल प्राप्त कर लेते हैं ।

इस प्रकार आराधना नामक ग्रन्थ में तप आराधना नामका चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

आराधका :

नियो मे आचार्यादि भेद—

सूर्युपाध्यायसाधूनां भेदैस्त्रेधा दिगम्बरा ।

आसामाराधकास्तेषां लक्षण संक्षेपतो ब्रुवे ॥३७३॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन भेदो से दिगम्बर मुनियो के तीन भेद हो जाते हैं वे तीनो ही इन चार की आराधनाओ के आराधक होते हैं। यहा पर सक्षेप से उनका लक्षण कहते हैं।

सूरिपाठकसाधूनां, षट्त्रिशंत् पञ्चविंशति. ।

तथाष्टाविंशतिर्मान्या, संति मूलगुणा क्रमात् ॥३९४॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु के कम से छत्तीस, पच्चीस और अट्ठाईस मूलगुण होते हैं जोकि सर्वमान्य है ।

आचार्य के मूल गुण—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि, द्वादश स्थितेः ।

कल्पा दशावश्यकानि, षट् षट् त्रिशद् गुणा गणेः ॥३९५॥

अर्थ—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, बारह तप, दश स्थिति कल्प और छह आवश्यक ये छत्तीस मूलगुण आचार्य परमेष्ठी के होते हैं।

आचारवत्त्वादि आठ गुणो के नाम—

उक्तच—आचारी सूरिराधारी, व्यवहारी प्रकारकः ।

आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावह ॥३९६॥

पञ्चाचारकृदाचारी, स्यादाधारी श्रुतोध्दुरः ।
व्यवहारपटुस्तद्वान्, परिचारी प्रकारकः ॥३६७॥

गुणदोषप्रवक्ताय त्पायदिग् दोषवामकः ।
उत्पीलको रहाभेत्ताऽस्त्रावी निर्वापकोऽष्टमः ॥३६८॥

अर्थ—आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, प्रकारकत्त्व आयापायदेशना, उत्पीलन, अपरिस्रवण और सुखावहन ये आठ गुण आचार्य में होते है । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) आचार पाच प्रकार का है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार । इन पाचो ही प्रकार के आचरण का स्वय पालन करना और दूसरो से कराना यह आचारवत्त्व गुण है यह जिनमे पाया जाय वे आचारी कहलाते है ।

(२) जो पूर्वादि श्रुतज्ञान को अथवा कल्प्य व्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हे । इस गुण के धारी आचार्य आधारी कहलाते हे ।

(३) व्यवहार नाम प्रायश्चित का है, उसके आगम श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ऐसे पाच भेद हैं । जो आचार्य प्रायश्चित देने आदि मे कुशल है वह व्यवहारपटु कहलाते है ।

(४) जो समाधि मे प्रवृत्त हुये साधुओ की परिचर्या—वयावृत्ति करने मे कुशल है, उनको परिचारी अथवा प्रकारी कहते है ।

(५) आलोचना करने मे उद्यत हुए क्षपक—समाधिमरण करने वाले साधु के गुण और दोषो के प्रकाशित करने को आयापायदेशना कहते है और इस गुण सहित आचार्य आयापायदिक् कहलाते हे ।

(६) साधु ने यदि व्रतादिको के अतिचार को अतरग मे छिपा रखा है बाहर नही निकाला है, उसको वमन कराने को—बाहर निकालने को उत्पीलन कहते हैं । इस गुण के धारी आचार्य उत्पीलक कहलाते है ।

(७) एकान्त मे कहे गये शिष्य के दोष को गोप्य रखने को—प्रगट न करने को अपरिस्राव गुण कहते है और इस गुण धारी आचार्य अपरिस्रावी कहलाते है ।

(८) क्षपक के क्षुधादि दुःखों को उत्तम कथा आदि के द्वारा उपशाम करना सुखावह गुण है। इस गुण के धारी आचार्य भी सुखावह कहलाते है। इस प्रकार आचारवत्त्व आदि आठ गुणों का वर्णन हुआ।

स्थितिकल्प के दश भेद और शेष भेदों के नाम—

आर्या—आचेलक्यौद्देशिक शय्याधरराजकीयपिंडोज्झाः।
कृतिकर्मव्रतारोपण योग्यत्व ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥३९९॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः।
तप आवश्यकसुवृत्तैर्मूलगुणा संति गणिनश्च ॥४००॥

अर्थ—आचेलक्य, औद्देशिक पिंडत्याग, शय्याधर पिंडत्याग, राजकीय पिंडत्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपणयोग्यता ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग इस प्रकार स्थितिकल्प गुण के दश भेद है। इस प्रकार आचारवत्त्व आदि ८, आचेलक्य आदि १०, तप १२ और आवश्यक ६ ऐसे ३६ गुण आचार्य परमेष्ठी के होते हैं।

दश स्थिति कल्प का स्वरूप निम्न प्रकार है--

(१) वस्त्रादिक सम्पूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं।

(२) जो मुनियों के उद्देश्य से तैयार किया गया है ऐसे भोजन पान आदि द्रव्य के ग्रहण न करने को औद्देशिक पिंडत्याग कहते है।

(३) वसतिका बनवाने वाले, उसका संस्कार करने वाले और वहां पर व्यवस्था आदि करने वाले ये तीनों ही शय्याधर शब्द से कहे जाते हैं। उनके पिंड—भोजन आदि के न ग्रहण करने को शय्याधर पिंड त्याग कहते हैं। अर्थात् 'मैं शय्याधर—वसतिका दान करने वाला हूँ मेरे यहां ही इन साधु का आहार होना चाहिये' ऐसा भाव न रखकर यदि दातार आहार देता है तो कोई दोष नहीं है और यदि ऐसा भाव रखकर देता है तो दोष है। अथवा कोई आचार्य शय्याधर पिंड त्याग का अर्थ शय्यागृहपिंड त्याग मानकर ऐसा अर्थ करते हैं कि विहार करते समय रात्रि में जिस वसतिका में ठहरे हैं अगले दिन वहां आहार न लेना शय्याधर पिंड त्याग कहलाता है।

(४) राजाओ के यहां आहार न लेना राजकीय हिथ त्याग कहलाता है। इसमे राजघराने मे पशुओ के या दास, दासियो के उपद्रव आदि यदि सभव है तो वर्ज्य है अन्यथा नही, क्योकि तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने भी राजाओ के यहा आहार लिया है।

(५) छह आवश्यको का पालन करना अथवा गुरुजनो का विनयकर्म करना कृतिकर्म गुण है।

(६) व्रतो के आरोपण करने की योग्यता छठा स्थितिकल्प गुण है।

(७) जो जाति, कुल, गुण, कीर्ति मे महान है तथा ज्ञान और चर्या आदि गुणो मे भी सभी साधुओ की अपेक्षा महान् है उन आचाय की ज्येष्ठता नाम का स्थितिकल्प गुण होता है।

(८) विधिवत् प्रतिक्रमण करने कराने वाले के आठवा प्रतिक्रमण नाम का स्थितिकल्प होता है।

(९) जिनको तीस दिन रात्रि तक एक ही स्थान मे या ग्राम आदि मे रहने का व्रत हो उनये मासैक वासिका गुण होता है।

(१०) वर्षा काल मे चार महीने तक अथवा श्रावण कृष्णा चतुर्थी से लेकर कातिक शुक्ला पचमी तक एक ही स्थान पर निवास करने को वर्षायोग कहते है। इस प्रकार इन दश स्थितिकल्प गुणो का दिड्मात्र विवेचन किया है। बारह तप और आवश्यक क्रियाओ का यथा स्थान विवेचन किया जा चुका है इसलिये यहा उनका वर्णन नही किया है।

अन्य प्रकार से आचार्य के मूलगुण—

आर्या—अथवा तपांसि द्वादश, दशधा धर्मश्च पञ्चधाचाराः।

आवश्यकानि षट् च, गुणास्त्रिगुप्तयोऽपि षट्त्रिंशत् ॥४०१॥

अर्थ—अथवा बारह तप, दशधर्म, पाच आचार, छह आवश्यक और तीन गुप्तिया ये १२+१०+५+६+३=३६ ये छत्तीस गुण भी आचार्य परमेष्ठी के होते हैं। इनका वर्णन सक्षिप्त रूप से किया जा चुका है।

उपाध्याय के गुण—

आर्या—पाठकस्यान्तपूर्वाण्येकादशचतुर्दश क्रमेण गुणाः।

तान्यङ्गानि शास्त्राणा, ज्ञाताप्ययवान्त्युपाध्यायः ॥४०२॥

अर्थ—उपाध्याय के ग्यारह अंग और चौदह पूर्वो के ज्ञाता हैं वे वे इन संबधी पचीस गुणो के धारक हैं। अथवा तात्कालिक शास्त्रो के ज्ञाता भी उपाध्याय कहलाते है।

चरित्राधना मे कथित २८ मूलगुण किन-किन मे होते हैं—

अनुष्टुप्—मूलगुणाश्च पूर्वोक्ताः, साधोस्तयोभयोरपि ।
सूरिपाठकयोः किंच, विना मूलान् न संयताः ॥४०३॥

अर्थ–पूर्वोक्त अट्ठाईस मूलगुण साधु परमेष्ठी में पाये जाते हैं तथा ये मूलगुण आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी मे भी अवश्य रहते हैं क्योंकि मूलगुणो के बिना सयमी नहीं हो सकते है।

सयमी के तीन भेद क्यों हुए—

दीक्षादानादिकृत्सूरिः पाठनाद्यश्च पाठकः ।
त्रिरत्नसाधनात्साधुः त्रयोऽपि गुरवस्त्विमे ॥४०४॥

अर्थ—शिष्यों को दीक्षा प्रायश्चित्त आदि देने वाले आचार्य होते हैं, उनको पढाने वाले उपदेश आदि देने वाले उपाध्याय कहलाते हैं और रत्नत्रय की साधना करने वाले साधु कहलाते हैं। ये तीनो ही गुरु माने गये हैं।

संयमादि की अपेक्षा मुनियो मे भेद—

अपहृतोपेक्षाभेदात्, संयमाद् द्विविधो मुनिः ।
शुभशुद्धोपयोगाद्वा, सरागवीतरागतः ॥४०५॥

अर्थ—अपहृत संयम और उपेक्षा संयम की अपेक्षा दिगम्बर मुनियो मे दो भेद हो जाते हैं। शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की अपेक्षा अथवा सराग चरित्र और वीतराग चारित्र की अपेक्षा भी दो-दो भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—पांच समितियो मे तथा षट् आवश्यक क्रिया आदि मे प्रवृत्ति रूप चारित्र को अपहृत संयम शुभोपयोगी चारित्र और सराग चारित्र

भी कहते हैं तथा वीतराग निर्विकल्प ध्यान रूप अवस्था को उपेक्षा संयम, शुद्धोपयोग तथा वीतराग चारित्र भी कहते हैं। इनकी अपेक्षा से भी मुनियों मे दो भेद हो जाते हैं।

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी की अपेक्षा भेद—

जिनस्थविरकल्पीभ्यां, द्विधा ज्ञानगुणादिकैः।
श्रेष्ठसंहननाद्यैश्च जिनकल्पी प्रपूर्णतः ॥४०६॥

अर्थ—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी की अपेक्षा भी मुनि के दो भेद होते हैं। उनमे से ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा तथा उत्तम संहनन आदि की अपेक्षा से परिपूर्ण हुये साधु जिनकल्पी कहलाते हैं।

स्थविरकल्पी का लक्षण—

हीनशक्तिगुणाद्यैश्च, संघे वसति सर्वदा।
सर्वज्ञाज्ञानुसारेण, स्थविरकल्पमाचरेत् ॥४०७॥

अर्थ—जो साधु हीन संहनन तथा अन्य ज्ञानादि गुणों से हीन हैं और हमेशा संघ में रहते हैं वे सर्वज्ञदेव की आज्ञानुसार स्थविरकल्प का आचरण करते हैं।

पुलाक आदि की अपेक्षा भेद—

पुलाकबकुशौ ज्ञेयौ, कुशीलश्च-तथागमे।
निर्ग्रन्थस्नातकौ चापि पञ्चधा भावलिंगिनः ॥४०८॥

अर्थ—पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रंथ और स्नातक आगम में ये पांच प्रकार के मुनि माने गये हैं। ये पांचों प्रकार के भी मुनि भावलिंगी होते हैं।

भावार्थ—जो उत्तरगुणों से हीन हैं तथा जिनमें मूलगुणों में भी [illegible] [illegible] [illegible] लग जाते हैं वे पुलाक मुनि होते हैं। जो मूलगुणों [illegible] [illegible] पालन करते हैं किन्तु अपने शरीर और उपकरण आदि से कुछ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कहलाते हैं। कुशील मुनि के दो भेद हैं—प्रतिसेवना

कुशील और कषाय कुशील। जिनके मूल गुण पूर्ण हैं किन्तु उत्तर गुणों में कदाचित् दोष लग जाता है वे प्रतिसेवना कुशील हैं। जिनके संज्वलन मात्र कषाय का उदय विद्यमान है वे कषाय कुशील हैं।

बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि निर्ग्रंथ कहलाते हैं और केवली भगवान स्नातक कहलाते हैं।

सामायिकादि की अपेक्षा भेद तथा संख्या—

सामायिकादिचारित्रैः पञ्चधा चापि संयताः।
संति षष्ठाद्ययोग्यंताः, तेत्र्यूननवकोटयः ॥४०९॥

अर्थ—सामायिक छेदोपस्थापना परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा भी मुनि पांच प्रकार के हो जाते हैं। तथा गुणस्थान की अपेक्षा से छठे गुण स्थान से लेकर अयोगी नाम के चौदहवे गुणस्थान पर्यंत मुनि तीन कम नव करोड़ प्रमाण माने गये हैं।

ऋद्धिधारी मुनियों में भेद—

सप्तर्द्धिसंयुताः केचित्, गणेशा ज्ञानशालिनः।
केचित् कतिपयर्द्धीशा आहारकर्द्धिका अपि ॥४१०॥

अर्थ—कोई सातों प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न ऐसे गणधर देव होते हैं जोकि ज्ञानशाली-चारज्ञानधारी होते हैं। कोई कुछ-कुछ ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं और कोई मुनि आहारक ऋद्धि धारी होते हैं। इस प्रकार से ऋद्धियों की अपेक्षा भी मुनियों में भेद हो जाते हैं।

चतुर्विध संघ—

ऋषिर्यतिर्मुनिश्चाप्यनगारस्तु चतुर्विधः।
संघस्तेऽपि ये सर्वे, यथाजाता दिगम्बराः ॥४११॥

अर्थ—ऋषि, यति, मुनि और अनगार इस प्रकार इन चारों भेद से मुनियों का चतुर्विध संघ कहलाता है। ये सभी साधु यथाजात दिगम्बर वेषधारी ही होते हैं।

सल्लेखना कौन करते है—

मूलोत्तरगुणान् यावज्जीवमभ्यस्य ते त्विमे ।
अंते समाधिना मृत्युं, कुर्वंति तत्फलाप्तये ॥४१२॥

अर्थ—ये उपर्युक्त भेदो मे सहित साधु जीवन भर मूल गुण और उत्तर गुणो का अभ्यास करके अत मे इन गुणो के फल की प्राप्ति के लिये समाधि से मरण करते है ।

अंते सल्लेखनामिच्छन् द्वादशवर्षाधिकं न हि ।
स्वायुर्ज्ञात्वा निमित्ताद्यैः सूरिः सोऽयं विधिं भजेत् ॥४१३॥

अर्थ—आचार्य अत में सल्लेखना की इच्छा करते हुये अपनी आयु को निमित्त ज्ञान आदि के द्वारा बारह वर्ष से अधिक नही है ऐसा जानकर निम्नलिखित विधि करते है ।

सल्लेखना के इच्छुक आचार्य क्या करते हैं—

योग्यं स्वशिष्यमाचार्य पदेऽवस्थाप्य सः पुनः ।
प्रायश्चित्तादिशास्त्रं तं चाध्याप्य संघमादिशेत् ॥४१४॥

अर्थ—पुन वे आचार्य अपने योग्य शिष्य को आचार्य पद पर स्थापित करके और उन्हे प्रायश्चित आदि शास्त्र को पढाकर अपने सघ को ऐसा आदेश देते है ।

अद्यप्रभृति व. सूरिः एष अस्यानुशासने ।
युष्माभिः स्थीयतामेतदुक्त्वाश्वास्य च तान् ततः ॥४१५॥

अर्थ—आज से लेकर आप लोगो के ये आचार्य है आप सभी इनके अनुशासन मे रहिये । ऐसा कहकर और पुन उन साधुओं को आश्वासन देते है ।

आचार्य सल्लेखना हेतु अन्य संघ में जाते हैं—

शास्त्रोक्तमन्यसंघं च, ह्यन्वेष्य तं श्रयेदसौ ।

शिष्यममत्वक्षोभाद्या, न स्युस्तस्मादयं विधिः ॥४१६॥

अर्थ—पुनः वे आचार्य शास्त्र में कथित गुणों युक्त अन्य संघ का अन्वेषण करके उसका आश्रय लेते हैं। अन्त समय अपने शिष्यों में ममत्व परिणाम अथवा उनके निमित्त से क्षोभ आदि न उत्पन्न हो जावे इसलिये ही आचार्य के लिये अन्यत्र संघ में जाने का विधान है।

अन्य संघ के साधु आगन्तुक के साथ क्या करते हैं—

सोऽप्यागंतुकमाचार्यः संगृह्यैनं निरीक्ष्य च ।

योग्यं क्षेत्रादि सर्वं चेत् पुनर्निर्यापको भवेत् ॥४१७॥

अर्थ—अन्य संघ के भी आचार्य आगमानुसार से आना होने से आगन्तुक आचार्य को स्वीकार करके और उनका योग्य निरीक्षण करके तथा सल्लेखना के योग्य क्षेत्रादि का भी निरीक्षण करके पुनः उनको सल्लेखना कराने के लिये आप निर्यापक बनें।

मरण के पांच भेद—

पंडितपंडितं चैव पंडितं बालपंडितं ।

बालं च बालबालं च पञ्चधा मरणं मतम् ॥४१८॥

अर्थ—पंडित पंडित मरण, पंडितमरण, बाल पंडित मरण, बालमरण और बाल बालमरण ऐसे मरण के पांच भेद माने गये हैं।

कौन-सा मरण किसको होता है—

मृतिः केवलिनः षष्ठाद्येकादशांत योगिनाम् ।

अणुव्रतिसदृष्टयोश्च, मिथ्यादृष्टेरनुक्रमात् ॥४१९॥

अर्थ—केवली भगवान् का मरण पंडित-पंडित मरण है, छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान के मुनियों का मरण पंडित मरण है,

अणुव्रतियों का मरण बालपंडित है। सम्यग्दृष्टियों का मरण बालमरण है एवं मिथ्यादृष्टि जीवों का बालबाल मरण होता है।

पंडित मरण के भेद--

पंडितमरणं भक्तप्रत्याख्यानं तथेङ्गिनी ।
प्रायोपगमनं चैव, सर्वज्ञोक्तं त्रिधा मतम् ॥४२०॥

अर्थ--पंडित मरण के तीन भेद सर्वज्ञ देव ने बतलाये हैं भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन।

आजकल कौन-सा मरण होता है--

समाधिकृत क्षपकाख्यो, निर्यापकश्च कारकः ।
मृतिर्भक्तप्रतिज्ञ वाच्यत्वे तां साधयेत्तराम् ॥४२१॥

अर्थ--समाधि को करने वाले साधु की क्षपक संज्ञा है, और कराने वाले की निर्यापक संज्ञा है। आजकल भक्तप्रत्याख्यान नाम का ही मरण होता है अतः निर्यापकाचार्य अतिशय रूप से उसकी सिद्धि करावें।

यहां से दो प्रकार मरण के लक्षण--

परोपकारहीनं स्यादिङ्गिनीमरणं तथा ।
स्वपरोपकारन्यूनं, प्रायोपगमनं भवेत् ॥४२२॥

अर्थ--जिस मरण में पर के उपकार की अपेक्षा नहीं रखी जाती है। वह इंगिनी मरण कहलाता है तथा जिसमें स्वयं की और पर के उपकार [illegible] की अपेक्षा नहीं है वह प्रायोपगमन मरण माना गया है।

भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद--

भक्तत्यागो द्विधा प्रोक्त, सविचाराविचारतः ।
[illegible] [illegible] गोत्साहस्य च प्राक्तनः ॥४२३॥

आहार आदि का त्याग जिसमे किया जाता है वह यमसल्लेखना कहलाती है और जिसमे उपसर्गादि के निवारण तक ही त्याग किया जाता है वह नियम सल्लखना कहलाती हे। यथा प्रसग ये ग्रहण की जाती हैं।

भक्त प्रत्याख्यान के उत्कृष्ट भेद का निरूपण—

सल्लेखनोत्तमां कुर्वन् द्वादशवर्षेऽ क्रमात्।
भक्त त्यजति तस्माद्धि भक्तत्यागः प्रसिद्धिभाक् ॥४२७॥

अर्थ—उत्कृष्ट भक्त प्रत्याख्यान नामकी सल्लेखना को करते हुये साधू बारह वर्ष मे क्रम-क्रम से आहार पानी का त्याग करते है इसीलिये इस मरण का भक्तप्रत्याख्यान यह नाम प्रसिद्धि को प्राप्त है।

भक्त त्याग के क्रम का वर्णन—

रत्नावल्याद्युपवासैश्चतुर्वर्षाण्यतः परम्।
चत्वारि च रसत्यागे, द्वे चाल्पभुक्तिनीरसे ॥४२८॥

अर्थ—रत्नावली कनकावली, सिंह निष्क्रीडित आदि उपवासो के द्वारा चार वर्ष व्यतीत करे, पुन रसपरित्याग करते हुये चार वर्ष पूर्ण करें, अनंतर अल्पभोजन-अवमोदर्य और नीरस भोजन से दो वर्ष व्यतीत करे।

अतरमुक्त्यैकवर्षं चानुत्कृष्टतपसा पुनः।
षण्मासं षट्च, तावच्च सर्वोत्कृष्टं तपो भजेत् ॥४२९॥

अर्थ—पुन एक वर्ष तक अल्पभोजन करे, अनतर छहमास अनुत्कृष्ट तपश्चरण मे व्यतीत करे उसके अनन्तर अन्त के छह मास मे सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण का आश्रय लेवे।

कुछ काल शेष रहने पर संस्तर ग्रहण करे—

अन्ते मासादिशेषे च, शक्तिहीने सति क्रमात्।
निर्यापकस्य पार्श्वेऽत्र, विविक्तसंस्तरं श्रयेत् ॥४३०॥

क्या-क्या वैयावृत्ति करते है ?

क्षपकाहारसेवादौ, धर्मस्य श्रावणादिके ।
प्रवर्तंते च ते सर्वे, संस्तरादिविशोधने ।।४३४।।

अर्थ—क्षपक के लिये आहार कराने मे, सेवा टहल करने मे उन्हे धर्म श्रवण कराने मे तथा क्षपक के सस्तर पाटे आदि के शोधन आदि कार्यों मे वे परिचारक साधु प्रवृत्ति करते हैं ।

क्षपक क्या करता है ?

संत्यज्य त्रिविधाहारं, क्षपक संघसन्निधौ ।
क्षमां कृत्वा स सर्वेभ्य क्षमायाञ्चां करोत्यपि ।।४३५।।

अर्थ—अनतर क्षपक मुनि चतुर्विध सघ के सान्निध्य मे तीन प्रकार के आहारो का त्याग करके और सभी साधुओ को क्षमा करके सभी से आप क्षमा याचना करता है ।

क्षपक साधु अन्त मे क्या करता है ?

समर्थो यदि स्यात्तर्हि पानाहारमपित्यजेत् ।
नान्यथा किंच सक्लेशो यथा न स्यात्तथा क्रियात् ।।४३६।।

अर्थ—यदि वह क्षपक साधु समर्थ है तो चौथा पानक (जलादि) आहार भी छोड देवे और यदि शक्तिहीन हो तो न छोडे, क्योकि जिस प्रकार से परिणाम से संक्लेश न हो वैसा हो करना चाहिये । अर्थात् सक्लेश होने से सल्लेखना बिगड जाती है ।

अकस्मात क्षपक को वेदना आदि होने पर क्या करना चाहिये ?

वेदनादिसमुद्भूते, मुनिं संबोधयत्न्यमी ।
महामंत्रौषधेनैव, तं चिकीत्सन्ति यत्नत ।।४३७।।

अर्थ—अकस्मात रोग आदि के निमित्त से क्षपक के शरीर मे वेदना आदि के उत्पन्न हो जाने पर वे परिचारक साधु उस क्षपक को संबोधित

करते हैं और महामंत्र रूपी महौषधि के द्वारा ही तब यत्नपूर्वक उन मुनि को चिकित्सा-शुश्रूषा करते हैं।

क्षपक क्या करता है ?

रसायनं महामंत्रं, पायं पायं ह्यसौ मुनि. ।
स्वात्मानं पोषयेद् हर्षात्, स्मरन् मंत्रं तनुं त्यजेत् ॥४३८॥

अर्थ—यह क्षपक मुनि भी महामंत्र रूप रसायन को पी पीकर हर्ष से अपनी आत्मा को पुष्ट करे और मंत्र स्मरण करते हुये इस शरीर का त्याग कर देवे।

समाधिमरण का फल—

स्यादेकस्मिन् भवे सम्यक् समाधिमरणं यदि ।
अधिकादपि सप्ताष्टभवे नियमात्स सिद्ध्यति ॥४३९॥

अर्थ—यदि एक भव में भी सम्यक् प्रकार से समाधिमरण हो जाता है तो वह साधु अधिक से अधिक सात अथवा आठ भव में नियम से सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकर्त्री की अन्तिम याचना—

चतुराराधनां सम्यक् यथायोग्यं प्रयत्नत ।
अहमाराधयन्त्येदाग्रे लभेय च पूर्णताम् ॥४४०॥

अर्थ—मै यथा योग्य (अपने पद के अनुसार) चारो प्रकार की आराधनाओ का प्रयत्नपूर्वक इस भव मे सम्यक्-विधिवत आराधना करती हुई पुन' अगले भव मे उसकी पूर्णता को प्राप्त करू।

आत्मानमात्मनात्मन्यात्मने ह्यात्यात्मन. स्वय ।
ध्यात्वा स्वात्मोपलब्धि तां, शाश्वती सिद्धिमाप्नुयाम् ॥४४१॥

अर्थ—मै स्वय आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा के लिये अपनी आत्मा के लिए अपनी आत्मा में अपनी आत्मा का ध्यान करके अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि रूप ऐसी शाश्वतिक सिद्धि को प्राप्त कर लेऊँ।

यावन्न स्याच्च तावद्धि, याचेऽहं भगवन् ! सदा ।
त्व त्प्रसादाद् भवेन्मह्चं सर्वसिद्धि परंपरा ॥४४२॥

अर्थ—हे भगवन्! जब तक यह शाश्वतिक सिद्धि मुझे न प्राप्त होवे तब तक मै हमेशा ही आपसे यही याचना करती हूं कि आपके प्रसाद से मुझे सर्वसिद्धि की परपरा प्राप्त होवे।

दु खक्षयो भवेत्कर्मक्षयो बोधिश्च लभ्यताम् ।
सुगत्याप्ति समाधिश्च मे स्यात्त्वद्गुणसपदा ॥४४३॥

अर्थ—हे भगवन्! मेरे दु खो का क्षय हो कर्मों का क्षय हो, मुझे बोधि की प्राप्ति हो, मेरा सुगति मे गमन हो और मेरा समाधिपूर्वक मरण हो तथा आपके गुणो की सपत्ति मुझे प्राप्त हो जावे।

इस ग्रन्थ का अन्तिम पद्य—

स्रग्धरा छंद —

मूलाचारादिकानां निजहितमनसा स्वल्पसारं गृहीत्वा ।
ग्रन्थश्चाराधनाख्यो रचित इति मया ज्ञानमत्या श्रमण्या ।४४

प्रशस्ति

सिद्धार्थस्यात्मजं वीरं, वंदे वीरैकशासनम् ।
मूलसंघाग्रणीं सूरिं, कुंदकुंदं परानपि ॥४४५॥

अर्थ—वीर स्वरूप है एक शासन जिनका ऐसे सिद्धार्थ राजा के पुत्र वीर भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं तथा मूलसंघ के अग्रणी आचार्य श्री कुंदकुंददेव को और अन्य आचार्यों को भी मैं नमस्कार करता हूं ।

कुंदकुंदान्वये नंदि संघे शारदाभिधे ।
गच्छे गणे बलात्कारे, सूरि श्री शांतिसागरः ॥४४६॥

अर्थ—कुंदकुंदाम्नाय में नंदिसंघ है, उसमें शारदागच्छ और बलात्कार गण है । उसमें श्री आचार्य शांतिसागर महाराज हुये है ।

तत्पट्टे चाभवत्सूरि गुरुर्मे वीरसागर ।
यत्प्रसादादहं जाता श्रमणी व्रतधरिणी ॥४४७॥

अर्थ—उन शांतिसागर महाराज के पट्ट पर मेरे गुरु आचार्य श्री वीरसागर महाराज हुये हैं कि जिनके प्रसाद से मैं श्रमणी व्रतों को धारण करने वाली हुई हूं ।

कुरुजांगलदेशेऽस्मिन् कल्याणातिशयान्विते ।
हस्तिनागपुरे क्षेत्रे, शान्तिनाथ जिनालये ॥४४८॥
ज्ञानवत्य मया ग्रन्थ, कृत आराधनाख्यया ।
स्वस्यै आराधनासिद्धयै, भूयात्सर्वहिताय च ॥४४९॥

अर्थ—शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ तीर्थंकरों के कल्याणकों के अतिशय से समन्वित कुरुजांगलदेश के हस्तिनापुर नामक क्षेत्र पर शान्तिनाथ भगवान के मंदिर में मुझ ज्ञानमती ने अपनी आराधना की सिद्धि के लिये यह 'आराधना' नाम का ग्रन्थ बनाया है जो कि सभी भव्यों के हित के लिये होवे।

त्र्यधिके पञ्चविंशत्यां, वीराब्दे माघमासि च ।
सितपक्षे द्वितीयायां, ग्रन्थोऽयं पूर्णतामगात् ॥४५०॥

अर्थ—वीर संवत् २५०३ में माघ मास के शुक्लपक्ष की द्वितीया तिथि के दिन यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है।

यावल्लोके जिनो धर्मो, यावच्चाराधनाविधि ।
तावद्ग्रन्थोऽप्ययं लोके, जीयाद् भव्यहितं क्रियात् ॥४५१॥

अर्थ—जब तक इस संसार में जैन धर्म है और जब तक आराधना की विधि है तब तक इस लोक में यह ग्रन्थ भी जयशील रहे और भव्यजीवों का हित करता रहे।

इति शुभम्

मुद्रक : [illegible] प्रेस, [illegible]